संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० १७

पञ्चस्तोत्र संग्रह

(मूलपाठ, अन्वयार्थ, संस्कृत टीका, भावार्थ सहित)

[भक्तामरस्तोत्र, कल्याणमंदिरस्तोत्र, एकीभावस्तोत्र,
विषापहारस्तोत्र, जिनचतुर्विंशतिकास्तोत्र]

अनुवादक
डॉ० पं० पन्नालाल जैन 'साहित्याचार्य'

प्रकाशक
जैन विद्यापीठ
सागर (म० प्र०)

पञ्चस्तोत्र संग्रह

[भक्तामरस्तोत्र, कल्याणमंदिरस्तोत्र, एकीभावस्तोत्र, विषापहारस्तोत्र, जिनचतुर्विंशतिकास्तोत्र]

संस्कृत टीका : श्रीचन्द्रकीर्ति

अनुवादक : डॉ॰ पं॰ पन्नालाल जैन 'साहित्याचार्य'

संस्करण : २८ जून, २०१७

(आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत्

आवृत्ति : २५४३) ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म॰ प्र॰) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर-एफ , इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा

भोपाल (म॰ प्र॰) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक

ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

श्री जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति के लिए पञ्चस्तोत्र जैन परम्परा में प्रचलित हैं। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् से पञ्चस्तोत्र संग्रह पूर्व में प्रकाशित था। इन पञ्चस्तोत्रों का अनुवाद डॉ॰ पन्नालालजी साहित्याचार्य ने किया है। इस ग्रन्थ की मुख्य बात यह है कि भूपाल कवि प्रणीत जिनचतुर्विंशतिका की एक और टीका चन्द्रकीर्ति कृत अलग से उपलब्ध हुई। पूर्व में चार स्तोत्रों की टीका चन्द्रकीर्ति कृत उपलब्ध थी, इस तरह इस ग्रन्थ में पञ्चस्तोत्र की टीका चन्द्रकीर्ति द्वारा रचित हैं। जो जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करने वाले सभी पाठकों को उपयोगी हों इसलिए इस ग्रन्थ का प्रकाशन संयम स्वर्ण महोत्सव के अवसर पर किया जा रहा है। एतदर्थ पूर्व प्रकाशन संस्था एवं अनुवादक का हृदय से आभार व्यक्त करते हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

आमुख

जैन स्तोत्रों में भक्तामर, कल्याणमन्दिर, एकीभाव, विषापहार और जिनचतुर्विंशतिका इन पञ्च स्तोत्रों का अच्छा सम्मान है, उसका कारण रचना-सौन्दर्य तो है ही पर प्रायः प्रत्येक स्तोत्र से कुछ दैविक फल प्राप्त होने का चमत्कार भी है। प्रसिद्ध है कि भक्तामर स्तोत्र के पाठ से आचार्य मानतुंग ४८ तालों को तोड़कर अड़तालीस कोठों से बाहर आये थे, एकीभावस्तोत्र के पाठ से उसके बनाने वाले वादिराज मुनि का कोढ़ दूर हुआ था और विषापहार-स्तोत्र के पाठ से उसके रचयिता धनंजय सेठ के बेटे का सर्पविष दूर हुआ था। शेष दो स्तोत्रों का भी कुछ दैविक अतिशय अवश्य होगा, पर वह इस समय प्रसिद्ध नहीं है। सभी स्तोत्र अपने अपने ढंग के निराले ही हैं।

भक्तामर स्तोत्र और कल्याण मन्दिर की शैली एक-सी है, मालूम होता है कि कल्याणमन्दिर स्तोत्र की रचना भक्तामर स्तोत्र को देखकर हुई है। इन दोनों स्तोत्रों में आराध्य देव के सुयश का वर्णन करते हुए अपने हृदय की भक्ति बहुत ही अच्छे ढंग से प्रकट की गई है। एकीभाव की रचना का असर साक्षात् हृदय क्षेत्र पर पढ़ता है। यदि तन्मय होकर इस स्तोत्र का पाठ किया जावे तो मालूम होगा कि मैं बाह्य शब्दाडम्बर में न पड़कर अपने हृदय की बात भगवान् के चरणों में अर्पित कर रहा हूँ।

विषापहारस्तोत्र कवि की चतुराई से भरा हुआ है। उसके रचयिता द्विसन्धान जैसे महाकाव्य के कर्त्ता धनंजय कवि हैं। सचमुच ये विषापहारस्तोत्र कवि के हृदयसागर को मथकर निकला हुआ अमृत ही है। इसके प्रत्येक श्लोक में अलौकिक चातुरी, शब्दमाधुरी और अर्थ की गम्भीरता भरी हुई है। जिनचतुर्विंशतिका स्तोत्र की रचना भी अच्छी है। उसकी रचना से मालूम होता है कि उसके रचयिता भूपाल कवि कोई भारी आलंकारिक विद्वान् होंगे। क्योंकि उसके प्रत्येक श्लोक में प्रायः

उपमा, रूपक आदि अलंकारों की छटा छिटकी हुई है।

ये पाँचों स्तोत्र संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं, इसलिये इसके मूल आनन्द का अनुभव तो उन्हीं को हो सकता है जो संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। जिस प्रकार मेघ से वर्षा हुआ पानी पृथ्वी पर पड़कर गंदला हो जाता है–उसके स्वाद में अंतर आ जाता है, उसी प्रकार किसी भी भाषा की मूल रचना को छोड़कर अन्य भाषाओं में अनूदित होने पर उसका मूल रसास्वाद नहीं होने पाता। पर मेघ की जलधारा को आकाश में चातक ही पी सकता है, बहु–जनसमूह के भाग्य में तो वही पृथ्वी–पतित पानी है। इसी तरह समय के दोष से आज संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् बहुत अल्प रह गये इसलिए उनके सिवाय सिर्फ हिन्दी को जानने वाला जनसमूह संस्कृत रचना के रसास्वाद से वञ्चित रहता है। जनसामान्य बहुत सुगमता से समझ सके इसलिए इनका अनुवाद राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त डॉ० पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य द्वारा बहुत ही स्पष्ट किया गया है।

इन पाँचों स्तोत्रों का कथानक सहित परिचय प्रस्तुत है–

भक्तामर स्तोत्र के रचयिता : आचार्य मानतुंग

मालवा प्रान्त के उज्जैन नगर में राजा भोज राज्य करते थे। राजा गुणग्राही और विद्याप्रेमी थे। संस्कृत विद्या में तो उनकी गाढ़ रुचि थी। उनके राज्य में सभी लोक व्यवहार संस्कृत भाषा में ही चलता था। उनकी राज्य सभा में बड़े–बड़े संस्कृत के विद्वान् थे। उनमें कालिदास, वररुचि आदि प्रसिद्ध थे।

एक दिन नगरश्रेष्ठी सुदत्त अपने पुत्र मनोहर को लेकर राज्य सभा में पहुँचे। राजा ने सेठजी से पूछा—सेठजी! आपका यह होनहार बालक क्या पढ़ता है? सेठ जी ने कहा—राजा जी! अभी इसने अध्ययन प्रारम्भ ही किया है। धनञ्जय नाममाला के केवल श्लोक ही इसने कंठस्थ किये हैं।

राजा ने कहा—सेठजी! इस ग्रन्थ का नाम मैंने पहले कभी नहीं सुना! इसके रचयिता कौन हैं?

सेठजी ने कहा—महाराज! स्याद्वादविद्यापारगंत महाकवि धनञ्जय की कृपा का यह प्रसाद है जिन्हें पाकर आपकी यह नगरी धन्य हुई है।

राजा ने कहा—ऐसे विद्वान् के आपने मुझे अभी तक दर्शन भी नहीं कराये। मुझे एक बार उनके दर्शन करना ही है।

राजा और सेठजी के मध्य हो रहे वार्तालाप को कालिदास सुन रहे थे। उन्हें जैनियों से स्वाभाविक द्वेष था अतः बीच में ही बोल उठे महाराज! वैश्य महाजन भी संस्कृत विद्या में पारंगत हो सकते हैं? कालिदास का द्वेष उबल पड़ा। परन्तु गुणज्ञ राजा पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा। राजा ने धनञ्जय जी को बुलवाया, वे पधार भी गये।

राज्य सभा में पहुँचते ही धनञ्जय जी ने आशीर्वादात्मक सुन्दर श्लोक सुनाया जिसे सुनकर राजा व सभाजन बहुत आनन्दित हुए। राजा ने उन्हें विशेष मान-सम्मान से बैठाया और आपस में कुशल क्षेम पूछा।

अनन्तर राजा ने कहा—आपकी विद्वत्ता लोक में प्रसिद्ध है; परन्तु हमें अभी तक आपका दर्शन नहीं मिला।

धनञ्जयजी ने कहा—कृपानाथ! पृथ्वीपति! आप जैसे पुण्यात्मा पुरुष का दर्शन बिना पुण्य के कैसे मिल सकता है? आज मेरा भाग्य है जो साक्षात् दर्शन कर मेरा मनोरथ सफल हुआ है। आपने अवश्य किसी बड़े ग्रन्थ की रचना की है अथवा करना प्रारम्भ किया होगा। द्वैषी कालिदास धनञ्जय की इतनी प्रशंसा सहन नहीं कर सका। उसने शीघ्र ही कहा-महाराज! नाममाला हम लोगों की है। इसका यथार्थ नाम 'नाममंजरी' है। ब्राह्मण ही इसके रचयिता हैं, वणिकों में इतनी बुद्धि कहाँ? धनञ्जय से रहा नहीं गया-उन्होंने कहा-महाराज! यह कृति मैंने बालकों के पठनार्थ रची है। हो सकता है। इन लोगों ने मेरा नाम लोप करके अपना नाम रख लिया हो और नाममंजरी बना ली हो।

विद्याविशारद राजा ने ग्रन्थ मंगवाया और स्वयं परीक्षा की। अन्य विद्वन्मण्डली से समर्थन पाकर कालिदास से कहा कि-तुमने यह बड़ा अनर्थ किया है। दूसरों की कृति को छिपाकर अपनी कृति प्रसिद्ध करना

चोरी नहीं तो क्या है? कालिदास बिगड़ गया। वह बोला—ये धनञ्जय अभी कल तो उस मानतुंग के पास पढ़ता था जिसमें ज्ञान की गंध भी नहीं है, आज यह इतना विद्वान् कैसे हो गया जो ग्रन्थ रचने लगा। उस मानतुंग को ही बुलाइये। उससे शास्त्रार्थ करवा के देख लीजिये, इनके पाण्डित्य की परीक्षा हो जायेगी।

धनञ्जय को भी गुरु के प्रति कहे गये अनादरपूर्ण वचन सहन नहीं हुए। वे कुपित होकर बोले-ऐसा कौन विद्वान् है जो मेरे गुरु पर आक्षेप करता है। पहले मेरे सामने आवे पीछे गुरुवर का नाम लेना। कालिदास को अपने ज्ञान का अभिमान था। उसने धनञ्जय से शास्त्रार्थ छेड़ दिया। धनञ्जय से शास्त्रार्थ में निरुत्तर हो कालिदास खिसिया गये और राजा से बोले-मैं इनके गुरु से शास्त्रार्थ करूँगा। यद्यपि राजा धनञ्जय के पक्ष की प्रबलता जानते थे पर कालिदास के संतोष के लिए शास्त्रार्थ का कौतुक देखने के लिए उन्होंने मानतुंगजी के निकट अपने दूत भेजे। दूतों ने मुनिराज से कहा—भगवन्! मालवाधीश भोज राजा ने आपकी ख्याति सुन दर्शनों की अभिलाषा से आपको राजदरबार में बुलाया है सो कृपा कर चलिये।

मुनिराज ने कहा—दिगम्बर साधु को राजद्वार से क्या प्रयोजन है? हम साधुओं को राजा से कुछ सम्बन्ध नहीं अतः हम उनके पास नहीं जा सकते। दूत हताश हो लौट आया। राजा ने दूत के वचन सुन पुनः उन्हें लाने को भेजा। इस प्रकार चार बार दूत खाली हाथ लौटे तो कालिदास ने राजा को उकसा दिया। राजा ने कुपित हो दूतों को आज्ञा दे दी कि जिस भी तरह हो उन्हें पकड़कर ले आओ। परेशान सेवक तो यह चाहते ही थे। वे तत्काल साधुराज को पकड़ लाये और राज्य सभा में खड़ा कर दिया।

साधुराजजी ने उपसर्ग समझकर मौन धारण किया और साम्य भाव का आलम्बन लिया। राजा ने बहुत चाहा कि ये कुछ बोलें किन्तु धीर-वीर-गंभीर दिगम्बर सन्त सुमेरुवत् अटल रहे। उनके मुँह से एक अक्षर भी नहीं निकला। तब कालिदास व अन्य द्वेषी ब्राह्मण बोले—राजन्! हमने कहा था यह महामूर्ख है, आपकी सभा को देखकर यह इतना भयभीत हो चुका है कि इसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकल रहा है। गुरुभक्तों ने

उस समय साधुराज से बहुत प्रार्थना कि–''गुरुदेव आप सन्त हैं, इस समय थोड़ा धर्मोपदेश दीजिए, राजा विद्या विलासी है उपदेश सुनकर सन्तुष्ट होगा। परन्तु वे धीर–वीर अडोल अकम्प हो रहे। क्रोधित होकर राजा ने उन्हें हथकड़ी और बेड़ी डलवाकर अड़तालीस कोठरियों के भीतर एक बन्दीगृह में कैद करवा दिया और मजबूत ताले लगवाकर पहरेदार बैठा दिये।

मुनिश्री तीन दिनों तक बन्दीगृह में रहे। चौथे दिन आदिनाथ स्तोत्र की रचना की जो कि यन्त्र–मन्त्र से गर्भित है। ज्यों ही स्वामी ने एक बार पाठ पढ़ा त्यों ही हथकड़ी, बेड़ी और सब ताले टूट गये और खट–खट दरवाजे खुल गये। स्वामी बाहर निकलकर चबूतरे पर आ विराजे। बेचारे पहरेदारों को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने मुनिश्री को पुनः कैद कर दिया। परन्तु कुछ ही क्षणों में पूर्ववत् मुनिश्री की स्थिति हुई, सेवकों ने पुनः कैद कर दिया, पर इस बार भी मुनिश्री बाहर आ विराजे। परेशान हो सेवकों ने राजा से सब वृत्तान्त कह सुनाया। यह सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ परन्तु राजा ने भी यह सोच कर कि शायद सेवकों के प्रमाद से यह हुआ है, सेवकों को पुनः कैद करने की आज्ञा दे दी। और कहा अच्छी तरह निगरानी रखो यह सब तुम लोगों के प्रमाद से हुआ है। सेवकों ने राजाज्ञा से पुनः उन्हें कैद कर दिया; परन्तु फिर वही पूर्ववत् स्थिति बनी। सकलव्रती मुनिराज इस समय तो सीधे बाहर निकलकर राजसभा में जा पहुँचे।

तपस्वी मुनिराज के दिव्य शरीर की प्रभा के प्रभाव से राजा का हृदय काँप गया। उन्होंने कालिदास को बुलाकर कहा–कविराज! मेरा आसन अब कम्पित हो रहा है। मैं अब इस सिंहासन पर एक क्षण भर भी नहीं ठहर सकता। कालिदास को कालीदेवी का इष्ट था। अतः उसने काली देवी का स्मरण किया। वह तुरन्त प्रकट हो गई। इसी समय मुनिराज के समीप चक्रेश्वरी देवी ने आ उनके दर्शन किये। चक्रेश्वरी का रूप सौम्य और कालिका का विकराल चण्डीरूप देखकर राज्य सभा चकित हो गई। चक्रेश्वरी ने फटकार कर कालिका से कहा कि कालिके! तूने यह क्या ठानी है, क्या तू मुनिश्री पर उपसर्ग करना चाहती है? यदि ऐसा है तो

तू ही देख लेना कि मैं भी तेरी क्या दशा कर सकूँगी। कालिका चक्रेश्वरी के वचन सुनते ही काँप उठी और नाना प्रकार के मधुर वचनों से उनकी स्तुति करने लगी। चक्रेश्वरी ने कालिका को बहुत उपदेश दिया और अन्तर्धान हो गई। पश्चात् कालिका ने मुनिश्री से क्षमा प्रार्थना की और वह भी अन्तर्धान हो गयी।

राजा भोज व कालिदास ने मुनि का प्रताप देखकर क्षमा माँगी और नाना प्रकार से स्तुति की। राजाभोज ने मुनिराज से श्रावक के व्रत लिये और अपने राज्य में जैनधर्म का खूब प्रचार किया।

❑ ❑ ❑

कल्याणामन्दिर स्तोत्र के रचयिता :श्री कुमुदचन्द्राचार्य

भक्तामरस्तोत्र के ही जोड़ का लोकप्रिय वसंततिलका छन्द में निबद्ध 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' कुमुदचन्द्राचार्य की एक अमूल्य भक्तिरस से भरी हुई बेजोड़ रचना है। इसमें ४४ पद्य हैं। अन्तिम भिन्न छन्द के एक पद्य से स्तोत्रकर्ता का नाम कुमुदचन्द्र सूचित किया गया है जिसे कुछ लोग सिद्धसेन नाम से भी मानते हैं। लगभग छठी शती की यह रचना मानी जाती है। दूसरे पद्य के अनुसार यह स्तोत्र २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति में रचा गया है। भक्तामर स्तोत्र के सदृश होते हुए भी यह स्तोत्र अपनी काव्य कल्पनाओं और शब्द योजनाओं में मौलिक ही है। जिनस्तुति करते हुए आपने लिखा–हे जिनेन्द्र, आप इन भव्यों को संसार से कैसे पार कर देते हैं, जो अपने हृदय में आपका नाम धारण करते हैं? हाँ जाना, जो एक मशक (दृति) भी जल में तैर कर निकल जाती है, वह इसके भीतर भरे हुए पवन का ही तो प्रभाव है। हे प्रभो! अपने हृदय में धारण करने पर पापरूपी सर्प उसी प्रकार भाग जाते हैं जैसे मयूर की आवाज सुनते ही चन्दन पर लिपटे सर्प ढीले पड़ जाते हैं। हे प्रभो! आपके ध्यान से भव्य पुरुष क्षणमात्र में देह को छोड़कर परमात्म को प्राप्त हो जाते हैं, क्यों न हो, तीव्र अग्नि के प्रभाव से नाना धातुएँ अपने पाषाण भाव को छोड़कर शुद्ध सुवर्णत्व को प्राप्त कर लेती हैं।

कल्याणमंदिर स्तोत्र की रचना के पीछे जो इतिहास छिपा है उसका वर्णन लिखते हुए मंगलाष्टक स्तोत्र में कवि ने लिखा है–

श्रीमत् कुमुदचन्द्र मुनिवरसों, वादपर्‍यो जहाँ सभा मंझार।
तब ही श्री कल्याणधामथुति, श्री गुरु रचना रची अपार॥
तब प्रतिमा श्री पार्श्वनाथ की, प्रकट भई त्रिभुवन जयकार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे, विघनहरण मंगल करतार॥

❑ ❑ ❑

एकीभावस्तोत्र के रचयिता : वादिराज मुनिराज

एकीभावस्तोत्र के रचयिता श्री आचार्य वादिराज वि. की ११ वीं शताब्दी के महान् विद्वान् थे। वादिराज यह उनकी पदवी थी, नाम नहीं। जगत्प्रसिद्ध वादियों में उनकी गणना होने से वे वादिराज के नाम से प्रसिद्ध हुए। आपकी गणना जैनसाहित्य के प्रमुख आचार्यों में की जाती है। इस स्तोत्र में २६ पद्य हैं। २५ पद्य मदाक्रान्ता छन्द के हैं और एक स्वागता छन्द में लिखित है। दार्शनिक, चिन्तक और महाकवि के रूप में वादिराज प्रख्यात हैं। ये उच्चकोटि के तार्किक होने के साथ भावप्रवण महाकाव्य के प्रणेता भी हैं। इनकी बुद्धिरूपी गाय ने जीवन पर्यन्त शुष्कतर्करूपी घास खाकर काव्य–दुग्ध से सहृदयजनों को तृप्त किया है। इनकी तुलना जैन कवियों में सोमदेवसूरि से और इतर संस्कृत कवियों में नैषधकार श्रीहर्ष से की जा सकती है।

वादिराज द्रमिल या द्रविड़ संघ के आचार्य थे। इसमें भी एक नन्दिसंघ था, जिसकी अरूङ्गल शाखा के अन्तर्गत इनकी गणना की गयी है। अनुमान है कि अरूङ्गल किसी स्थान या ग्राम का नाम है, जहाँ की मुनिपराम्परा अरूङ्गलान्वय के नाम से प्रसिद्ध हुई। वादिराज श्रीपालदेव के प्रशिष्य, मतिसागर के शिष्य और रूपसिद्धि के कर्ता दयापाल मुनि के गुरुभाई थे।

आचार्य वादिराज के विषय में एक कथा प्रचलित है कि–

वादिराज स्वामी का चौलुक्य नरेश जयसिंह (प्रथम) की सभा में

बड़ा सम्मान था। पूर्वकृत पापोदय से आचार्यश्री के शरीर में कुष्ठरोग हो गया। निस्पृही वीतरागी संत अपने आत्मध्यान में ही लीन रहते थे। शरीर की वेदना से उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। किन्तु जिनधर्मद्वेषी एक दुष्ट स्वभावी विद्वान् ने राजसभा में मुनिश्री का घोर उपहास कर राजा से कहा–राजन्! तुम जैनधर्म की इतनी मान्यता करते हो, श्रेष्ठ कहकर उनके साधुओं का सम्मान करते हो पर यह नहीं जानते कि ''जैन साधु कोढ़ी (कुष्ठ-ग्रस्त)'' होते हैं। राजश्रेष्ठी को यह उपहास सहन नहीं हुआ। उसने भक्तिवशात् राजा से कहा–राजन्! यह असत्य है जैन मुनियों की काया तपाये स्वर्ण के समान सुन्दर और तेजोदीप्त होती है।

राजा ने निर्णय लिया कि प्रातः आचार्यश्री के दर्शनार्थ चला जाये। इधर राजश्रेष्ठी दौड़ता हुआ आचार्यश्री के चरणों में पहुँचा। उसने आचार्यश्री से अपनी करुण कथा कह सुनायी और कहा प्रभो! अब जिनधर्म की रक्षा का प्रश्न है। आप जो उचित समझें, करें। आचार्यश्री ने उन्हें आशीर्वाद दिया और आदिनाथजी की भक्ति में लीन हो एकीभावस्तोत्र की रचना कर डाली। जिनभक्ति में लीन मुनिश्री जिनेन्द्र भक्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं–हे भगवन्! भव्य जीवों के पुण्योदय से स्वर्ग से माता के गर्भ में आने वाले आपके द्वारा छह माह पूर्व ही यह पृथ्वी कनकमयता को प्राप्त करा दी गई थी। हे जिनेन्द्र! ध्यानरूपी द्वार से मेरे मनरूपी मन्दिर में प्रविष्ट हुए आप कुष्ठ रोग से पीड़ित मेरे इस शरीर को सुवर्णमय कर रहे हो इसमें क्या आश्चर्य है। अथवा हे जिन! जो कोई आपके दर्शन करता है, वचनरूपी अमृत का भक्तिरूपी पात्र से पान करता है तथा कर्मरूपी वन से आप जैसे असाधारण आनन्द के धाम मोक्ष में प्रविष्ट हुए तथा दुर्वार काम के मदहारी ऐसे आपके प्रसाद की अद्वितीय भूमिरूप पुरुष को क्रूराकार रोग और कंटक कैसे सता सकते हैं? जिनभक्ति के प्रसाद से रातभर में ही उनका गलित कुष्ठग्रस्त शरीर स्वर्णवत् चमकने लगा। प्रातः राजा, राजश्रेष्ठी और जिनधर्मद्वेषी सभी आचार्यश्री के दर्शनार्थ चल दिये। उसी जंगल में आ पहुँचे जहाँ मुनिश्री ध्यान में लीन थे। उनका तेज दूर तक फैल रहा था। चमकती देहकान्ति को देखते ही राजश्रेष्ठी आनन्दविभोर हो गया। राजा ने

पूछा–श्रेष्ठी, क्या ये ही आपके गुरु हैं? सेठजी ने कहा–जी! हाँ। राजा उनके पावन चरणों में नतमस्तक हुआ और द्वेषियों की ओर कोप–भरी दृष्टि से देखने लगा। सबके सब थर–थर काँपने लगे। मुनिश्री ने कहा–राजन्! यह सत्य है कि मेरे शरीर में कुष्ठ था, अभी भी मेरी कनिष्ठा अंगुली में इसका प्रभाव शेष है। किन्तु ''जैनधर्म के सभी साधु कोढ़ी होते हैं'' इस आक्षेप को दूर कर जिनधर्म की प्रभावना के लिए मैंने भक्ति के प्रसाद से यह रोग एक रात में दूर कर दिया है। अत: इन बेचारों की कोई गलती नहीं। राजा मुनिश्री के वचनों को सुन दर्शन से बहुत प्रभावित हुआ। राजा ने व जिनधर्म द्वेषियों ने आचार्यश्री से क्षमा प्रार्थना की और जिनधर्म को धारण कर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

❑ ❑ ❑

विषापहार स्तोत्र के रचयिता : धनञ्जय कवि

भक्ति पूर्ण ४० पद्यों में का यह स्तोत्र काव्य है। इसमें ३९ उपजाति और एक पुष्पिताग्रा इस प्रकार ४० पद्य हैं। प्रौढ़ता, गम्भीरता और अनूठी उक्तियों के लिये यह काव्य प्रसिद्ध है। इस काव्य के रचयिता महाकवि धनंजय हैं। इनका समय ८ वीं शताब्दी है।

इस स्तोत्र काव्य पर विक्रम संवत् १६ वीं शती की लिखी पार्श्वनाथ के पुत्र नागचन्द्र की संस्कृत टीका प्रसिद्ध है। अन्य संस्कृत टीकाएँ भी पायी जाती है। नवीन विषयों की कल्पना एवं पुरातन इतिवृत्तों का नवीन रूप में प्रस्तुतिकरण इस स्तोत्र की मौलिक विशेषता है।

आपने १. विषापहारस्तोत्र, २.धनञ्जय नाममाला, ३.द्विसन्धान महाकाव्यम्, ये तीन ग्रन्थ बनाये हैं।

१. धनंजय निघण्टु या नाममाला—छात्रोपयोगी २००पद्यों का शब्दकोष है। इसमें ४६ श्लोक प्रमाण एक अनेकार्थ नाममाला भी सम्मिलित है। इस छोटे से कोष में बड़े ही कौशल से संस्कृत भाषा की आवश्यक शब्दावली को चयन कर गागर में सागर भरने की कहावत चरितार्थ की है। इस कोष में कुल १७००शब्दों के अर्थ दिये गये हैं। शब्द

से शब्दान्तर बनाने की प्रक्रिया अद्वितीय है।

२. द्विसंधान महाकाव्यम्—संधान शैली का यह सर्वप्रथम संस्कृत काव्य है। द्विसंधान काव्य के प्रत्येक पद्य के दो अर्थ होते हैं। पहला रामायण से सम्बद्ध और दूसरा महाभारत से। इसी कारण इस काव्य को राघव पाण्डवीय भी कहते हैं। द्विसन्धान काव्य के अन्तिम पद्य से यह स्पष्ट होता है कि आपकी माता का नाम श्रीदेवी, पिता वासुदेव और गुरु का नाम दशरथ था। इस पर विनयचन्द्र पण्डित के प्रशिष्य और देवनन्दि के शिष्य नेमिचन्द्र, रामभट्ट के पुत्र देववर एवं बदरी की संस्कृत टीकाएँ भी उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत विषापहारस्तोत्र में भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की है। यह स्तुति गंभीर, प्रौढ़ और अध्यात्म से पूर्ण अनूठी रचना है। यह ग्रन्थ कवि की चतुराई से भरा हुआ है। इसमें शब्दों का माधुर्य, अर्थों का गांभीर्य और अलंकार की छटा यत्र-तत्र देखने को मिलती है।

विषापहार स्तोत्र की रचना का मुख्य हेतु उनके जीवन की अपूर्व घटना का इतिहास उसके पीछे है-कविराज धनञ्जय जिनपूजन में लीन थे। उनके सुपुत्र को सर्प ने डँस लिया। घर से कई बार समाचार आने पर भी वे निस्पृह भाव से पूजन में पूर्णतया तन्मय रहे। एकलौते पुत्र की गंभीर स्थिति देख कुपित होकर बच्चे को लेकर ही उनकी धर्मपत्नी। जिनमन्दिरजी में आ गई और उसी मूर्च्छित अवस्था में पुत्र को पति के सामने डाल दिया। पूजा से निवृत्त हो धनञ्जय ने विचार किया। जिनभक्ति का प्रभाव यदि आज नहीं दिखाया तो लोगों की श्रद्धा धर्म से उठ जायेगी। तत्काल विषापहार स्तोत्र की रचना करते हुए भक्ति में लीन प्रभु से कहने लगे-हे देव, मैं यह स्तुति करके आपसे दीनतापूर्वक कोई वर नहीं माँगता हूँ, क्योंकि आप उपेक्षा रखते हैं। जो कोई छाया पूर्ण वृक्ष का आश्रय लेता है, उसे छाया अपने आप मिलती ही है, फिर छाया माँगने से क्या लाभ? और हे देव, यदि आपको मुझे कुछ देने की इच्छा ही है और उसके लिये अनुरोध भी, तो यही वरदान दीजिये कि मेरी आपमें भक्ति दृढ़ बनी रहे।

भक्ति में लीन कविराज कहते हैं हे प्रभो! इस बालक का विष उतारने के लिये मैं मणि-मन्त्र औषधि की खोज में यत्र-तत्र भटकने वाला नहीं, मुझे तो आप रूप कल्पवृक्ष का ही आश्रय है। सत्य है कि हे भगवन्! लोग विषापहार मणि, औषधियों, मन्त्र और रसायन की खोज में भटकते फिरते हैं; वे यह नहीं जानते कि ये सब आपके ही पर्यायवाची नाम हैं। इधर स्तोत्र-रचना हो रही थी उधर पुत्र का विष उतर रहा था। स्तोत्र पूरा होते-होते बालक निर्विष होकर उठ बैठा। चारों ओर जैनधर्म की जय-जयकार गूंज उठी थी। धर्म की अपूर्व प्रभावना हुई।

विषापहार स्तोत्र की आराधना करने वाले भव्यात्मा को मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक प्रतिदिन प्रातः इसका पाठ करना चाहिए।

❑ ❑ ❑

जिनचतुर्विंशतिका स्तोत्र के रचयिता : भूपाल कवि

जम्बूद्वीप के आर्यखंड में भारतवर्ष में वाराणसी नामक प्रसिद्ध नगरी है। यह पावन भूमि श्री १००८ तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ-पार्श्वनाथ की पावन जन्मभूमि है। इस नगरी में हेमवान नाम का प्रसिद्ध जैनधर्मानुयायी उदारचरित राजा था। राजा के सूर्य-चन्द्र की तरह दो प्यारे पुत्र थे। बड़े का नाम भूपाल और छोटे का भुजपाल था।

बालक जब पढ़ने योग्य हुए तब राजा ने श्रुतधर पंडित को बुलाया और धन-मान से विभूषित करके दोनों बालक विद्याध्ययन के लिये सौंप दिये। दोनों को गुरु ने समदृष्टि से पढ़ाया परन्तु कर्मोदय की विचित्रता विचित्र है। बड़े पुत्र भूपाल को बिल्कुल भी ज्ञान नहीं हो पाया जबकि लघु पुत्र भुजपाल पिंगल, व्याकरण, तर्क, न्याय, राज्यनीति, सामुद्रिक, ज्योतिष, वैद्यक, शब्दशास्त्र आदि सभी विद्याओं में प्रवीण हो गया।

गुरु ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार भूपाल को बहुत परिश्रम के साथ पढ़ाते रहे। वह भी स्वयं परिश्रम करता रहा, परन्तु मूर्ख ही रहा। मूर्ख भूपालकुमार जहाँ भी जाता, अनादर-तिरस्कार को प्राप्त होता। मन ही मन दुःखी रहता। राजदरबार, परिवार सब जगह उसकी हँसी होती थी। सब लोग

उसका उपहास करने लगे। हेमवान राजा का प्यार भी शिक्षित पुत्र भुजपाल पर जितना अधिक था, भूपाल कुमार का वे उतना ही उपहास करते थे।

जगह-जगह अपमान, तिरस्कार से पीड़ित, निरुपाय, दुःखी, मूर्ख, अपनी अशिक्षित दशा से खेदखिन्न हो भूपाल अपने छोटे भाई से ज्ञानवृद्धि का उपाय पूछते हैं। लघु भ्राता भुजपाल कहते हैं-भैया! श्री भक्तामर जी स्तोत्र का ६वाँ काव्य ऋद्धि-मंत्र सहित सीखकर आराधना कीजिए।

श्रद्धालु राजकुमार भूपाल ने गंगा नदी के किनारे जाकर शुद्धता पूर्वक मन्त्र की आराधना करना प्रारंभ कर दिया। एकाग्रता से मन्त्र जाप्य के प्रभाव से ब्राह्मी देवी प्रकट होकर राजकुमार से कहने लगी-

रे बालक! तुमने मुझे क्यों स्मरण किया है?

बालक-माँ, मैं मूर्ख हूँ, ज्ञान प्राप्ति के लिये मैंने आपका स्मरण किया है। मेरा अज्ञान दूर करो।

देवी 'तथास्तु' कहकर, अपने स्थान को चली गई।

भूपाल पर विद्या इस तरह प्रसन्न हुई कि वे संस्कृत, व्याकरण, न्याय-अलंकार आदि के धुरन्धर विद्वान् हो गये। काशी नगर में उनकी बराबरी करने वाला कोई विद्वान् नहीं रहा था। वे महाकवि के रूप में प्रसिद्ध हुए। 'भूपाल चतुर्विंशतिका' स्तोत्र की रचना कर आपने जिनदर्शन की महिमा का अपूर्व फल जनमानस के स्मृति-पटल पर अंकित करने का महाप्रयास किया है।

❑ ❑ ❑

अनुक्रमणिका

१.	**भक्तामरस्तोत्र**	
	श्रीमानतुङ्गाचार्य	१
२.	**कल्याणमन्दिरस्तोत्र**	
	श्री कुमुदचन्द्राचार्य	४४
३.	**एकीभावस्तोत्र**	
	श्री वादिराज मुनि	८३
४.	**विषापहारस्तोत्र**	
	श्री धनञ्जय महाकवि	११२
५.	**जिनचतुर्विंशतिकास्तोत्र**	
	श्री भूपाल कवि	१४९

ॐ

श्रीमानतुङ्गाचार्यविरचितम्

भक्तामरस्तोत्रम्

(श्री आदिनाथस्तोत्रम्)

(वसन्ततिलका छन्द)

जिनपदवन्दन की महिमा

भक्तामर-प्रणतमौलि -मणिप्रभाणा-
मुद्योतकं दलित-पाप-तमो - वितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिन - पाद - युगं युगादा-
वालम्बनं भव-जले पततां जनानाम्॥१॥

स्तुति का संकल्प

यः संस्तुतः सकल -वाङ्मय - तत्त्व-बोधा-
दुद्भूत-बुद्धि - पटुभिः सुर - लोक- नाथैः।
स्तोत्रैर्जगत्- त्रितय - चित्त - हरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्॥२॥ (युग्मं)[1]

अन्वयार्थ—(भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणि-प्रभाणाम्) भक्त देवों के झुके हुए मुकुटों के रत्नों की कान्ति के **(उद्योतकम्)** बढ़ाने वाले **(दलितपाप-तमोवितानम्)** नष्ट कर दिया पापरूपी अन्धकार के विस्तार

---

१. **द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम्।**
कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्॥
जहाँ दो श्लोकों में क्रिया का अन्वय हो उसे युग्म, तीन में हो उसे विशेषक, चार में हो उसे कलाप और पाँच, छह आदि में से उसे कुलक कहते हैं।

को जिन्होंने **(च)** और **(युगादौ)** युग के प्रारम्भ में **(भवजले)** संसाररूप जल में **(पतताम्)** गिरते हुए **(जनानाम्)** प्राणियों के **(आलम्बनम्)** सहारा देने वाले **(जिनपाद-युगम्)** जिनेन्द्र भगवान् के दोनों चरणों को **(सम्यक्)** भली भाँति **(प्रणम्य)** नमस्कार करके **(यः)** जो **(सकल-वाङ्मय-तत्त्व-बोधात्)** समस्त द्वादशाङ्ग के यथार्थ ज्ञान से **(उद्भूत-बुद्धिपटुभिः)** उत्पन्न हुई बुद्धि से चतुर **(सुरलोक-नाथैः)** इन्द्रों के द्वारा **(जगत्-त्रितय-चित्त-हरैः)** तीन लोक के प्राणियों के चित्त को हरने वाले **(च)** और **(उदारैः)** उत्कृष्ट **(स्तोत्रैः)** स्तोत्रों से **(संस्तुतः)** स्तुत किए गए थे **(तम्)** उन **(प्रथमम्)** प्रथम **(जिनेन्द्रम्)** जिनेन्द्र आदिनाथ की **(अहम् अपि)** मैं भी **(किल)** निश्चय से **(स्तोष्ये)** स्तुति करूँगा।

टीका—भक्तामरेति। किलेति संभावनायां। अहमपि मानतुंगाचार्यः। तं प्रथमं जिनेन्द्रम् श्रीवृषभदेवं। स्तोष्ये स्तवनं करिष्यामीत्यर्थः। ष्टुञ् स्तुतावित्यस्य धातोः प्रयोगः। किं कृत्वा? जिनपादयुगमर्हच्चरणद्वन्द्वम् सम्यग्यथोक्तप्रकारेण नत्वा। जिनपादयोः युगं जिनपादयुगम्। कथंभूतं जिनपादयुगम् भक्तामरप्रणत-मौलिमणि प्रभाणां उद्योतकं। भक्ताश्च तेऽमराः शतेन देवास्तेषां मणयस्तेषां प्रणता नम्रीभूता ये मौलयः किरीटास्तेषां मणयस्तेषां प्रभा कान्तयस्तासाम्। उद्योतयतीति उद्योतकम्। पुनः कथंभूतम् दलितपापतमोवितानाम्। दलितं पापान्येव तमांसि तेषां वितानं येन तत्। पुनः कथंभूतम्? युगादावेतदवसर्पिणीकाले। भवजलेसंसारसागरे, पततां-निमज्जतां, जनानां लोकानां, आलम्बनं-हस्तावलम्बनमित्यर्थः। तं कम्? यः भगवान् सुरलोकनाथैः। शतेन्द्रादिभिः स्तोत्रैः स्तवनैः संस्तुतः। कथंभूतैः सुरलोकनाथैः। सकलवाङ्मय-तत्त्वबोधात् सकलं-समस्तं यद्वाङ्मयं तस्य तत्त्वबोधो-यथार्थज्ञानं तस्मात्। उद्भूतबुद्धिपटुभिः उद्भूताः समुत्पन्ना या बुद्धयो मनीषास्ताभिः पटवो वाचालास्तैः। कथंभूतैः स्तोत्रैः जगत्त्रितय-चित्तहरैः। जगतां त्रितयं तस्य चित्तानि मनांसि हरन्तीति तानि तैः। पुनरुदारैगंभीरैरित्यर्थः। (युग्मं)

भावार्थ—भगवान् ऋषभदेव के चरण युगल में जब देवगण भक्ति पूर्वक नमस्कार करते हैं तब उनके मुकुट में जड़ित मणियाँ प्रभु के चरणों

की दिव्य कान्ति से और अधिक देदीप्यमान हो जाती है। भगवान् के चरणों का स्पर्श ही प्राणियों के पापों का नाश करने वाला है, तथा जो उन चरण युगल का आलम्बन (सहारा) लेते हैं वे संसार समुद्र से पार हो जाते हैं। इस युग के प्रारम्भ में धर्म का प्रवर्तन करने वाले प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के चरण-युगल में विधिवत् प्रणाम करके स्तुति करूँगा।

भावार्थ—सम्पूर्ण वाङ्मय (शास्त्रों) का ज्ञान प्राप्त करने से जिनकी बुद्धि अत्यन्त प्रखर हो गई हैं ऐसे देवेन्द्रों ने तीनों लोकों के प्राणियों के चित्त को आनन्दित करने वाले सुन्दर स्तोत्रों के द्वारा प्रभु आदिनाथ की स्तुति की है, उन प्रथम जिनेन्द्र की मैं (मानतुङ्ग आचार्य अल्पबुद्धि वाला सामान्य व्यक्ति) भी स्तुति करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

आचार्य का लाघव प्रदर्शन

बुद्ध्या विनापि विबुधार्चित-पाद-पीठ !
स्तोतुं समुद्यत - मतिर्विगत - त्रपोऽहम्।
बालं विहाय जल-संस्थित-मिन्दु-बिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(विबुधार्चित-पादपीठ!) देवों के द्वारा पूजित है पादपीठ-पैरों के रखने की चौकी / सिंहासन जिनकी ऐसे हे जिनेश! **(विगतत्रपः)** निर्लज्ज/लज्जा रहित **(अहम्)** मैं **(बुद्ध्या विना अपि)** बुद्धि के बिना भी **(स्तोतुम्)** स्तुति करने के लिए **(समुद्यतमतिः)** तत्पर बुद्धि वाला हो रहा हूँ **(यतः)** क्योंकि **(बालम्)** बालक-मूर्ख को **(विहाय)** छोड़कर **(अन्यः)** दूसरा **(कः जनः)** कौन मनुष्य **(जलसंस्थितम्)** जल में प्रतिबिम्बित **(इन्दुबिम्बम्)** चन्द्रमण्डल को **(सहसा)** बिना विचारे शीघ्रता से **(ग्रहीतुम्)** पकड़ने की **(इच्छति)** इच्छा करता है अर्थात् कोई भी नहीं।

टीका—हे विबुधार्चितपादपीठ! अहं मानतुंगः कविः। बुद्ध्या विनापि मतिहीनोऽपि। त्वां भगवन्तम्। स्तोतुं समुद्यतमतिर्वर्ते। विबुधै-श्चतुर्णिकायाऽमरैः अर्चितं पूजितं पादयोः पीठं सिंहासनं यस्य स तस्यामंत्रणं। समुद्यता मतिर्यस्य सः। कथंभूतोऽहं विगता त्रपा लज्जा यस्य सः। बालं

विहाय इति किं परित्यज्यान्यः को मतिमान्पुमान्। जलसंस्थितं जले प्रतिबिम्बीभूत-मिन्दुबिम्बं चन्द्रमण्डलं। सहसा रभसा। ग्रहीतुमुपादातुम्। इच्छति वाञ्छेत् न कोऽपीत्यर्थः।

भावार्थ—हे देवों द्वारा पूजित जिनेश्वर जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रबिम्ब को पकड़ना असम्भव होते हुए भी नासमझ बालक उसे पकड़ने का प्रयास करता है। उसी प्रकार मैं अत्यन्त अल्पबुद्धि होते हुए भी आप जैसे महामहिम की स्तुति करने का प्रयास कर रहा हूँ। क्या मेरी यह धृष्टता नहीं है?

अवर्णनीय जिनवर गुण

वक्तुं गुणान् गुण-समुद्र! शशाङ्क-कान्तान् ,
कस्ते क्षमः सुरगुरु-प्रतिमोऽपि बुद्ध्या ।
कल्पान्त -काल - पवनोद्धत- नक्र- चक्रं,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम्॥४॥

अन्वयार्थ—(गुण-समुद्र!) हे गुणों के सागर! **(बुद्ध्या)** बुद्धि के द्वारा **(सुरगुरु-प्रतिमः अपि)** बृहस्पति के समान भी **(कः)** कौन पुरुष **(ते)** आपके **(शशाङ्क-कान्तान्)** चन्द्रमा के समान सुन्दर **(गुणान्)** गुणों को **(वक्तुम्)** कहने के लिए **(क्षमः)** समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं **(वा)** अथवा **(कल्पान्त-काल-पवनोद्धत-नक्रचक्रम्)** प्रलयकाल की वायु के द्वारा प्रचण्ड है मगरमच्छों का समूह जिसमें ऐसे **(अम्बुनिधिम्)** समुद्र को **(भुजाभ्याम्)** भुजाओं के द्वारा **(तरीतुम्)** तैरने के लिए/पार करने के लिए **(कः अलम्)** कौन समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं।

टीका—भो गुणसमुद्र! कः पुमान्। ते तव। गुणान् वक्तुम् यथार्थतया प्रतिपादयितुम्। क्षमः समर्थोऽस्ति। कथंभूतः सन्? बुद्ध्या कृत्वा सुरगुरु-प्रतिमोऽपि सन् सुरगुरुणा वृहस्पतिना प्रतिमीयतेऽसौ। कथंभूतान् गुणान्? शशांककान्तान् शशांकः शरच्चन्द्रस्तद्वत्कान्तान्मनोज्ञान् अथवा उज्ज्वलान्। स्वस्याशक्यतां दृष्टान्तेन द्रढयति। वा इति पक्षान्तरे। कः पुमान् भुजाभ्यामम्बु-निधिं तरीतुमलं समर्थो भवति। न कोऽपीत्यर्थः। कथंभूतमम्बुनिधिं कल्पान्त-

कालस्य प्रलयकालस्य ये पवना वायवस्तैरुद्धता प्रकटीभूता ये नक्राः पाठीना मत्स्यादयो जीवास्तेषां समूह यस्मिन् स तम्।

भावार्थ—हे गुणसमुद्र! जिनेश्वर क्या चन्द्रमा के समान (स्वच्छ एवं आनन्द रूप) आपके अनन्त गुणों का वर्णन करने में देवगुरु (बृहस्पति) के समान बुद्धिमान भी समर्थ हो सकता? अर्थात् नहीं हो सकता। जैसे प्रलय काल के तूफानी पवन से उछाल मारते भयानक मगरमच्छ आदि से क्षुब्ध महासमुद्र को क्या कोई मानव अपनी भुजाओं से तैर कर पार कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं।

उमड़ती हुई भक्ति प्रेरणा

सोऽहं तथापि तव भक्ति - वशान्मुनीश !
कर्तुं स्तवं विगत - शक्ति - रपि प्रवृत्तः।
प्रीत्यात्म - वीर्य - मविचार्य मृगी मृगेन्द्रम्
नाभ्येति किं निज-शिशोः परिपालनार्थम्॥५॥

अन्वयार्थ—**(मुनीश!)** हे मुनियों के ईश! **(तथापि)** तो भी **(सः अहम्)** वह मैं अल्पज्ञ **(विगतशक्तिः अपि)** शक्तिरहित होता हुआ भी **(भक्ति-वशात्)** भक्ति के वश से **(तव)** आपकी **(स्तवम्)** स्तुति को **(कर्तुम्)** करने के लिए **(प्रवृत्तः)** तैयार हुआ हूँ **(यथा)** जैसे **(मृगी)** हिरणी **(आत्मवीर्यम् अविचार्य)** अपनी शक्ति का विचार न कर केवल **(प्रीत्या)** स्नेह के द्वारा **(निजशिशोः)** अपने बच्चे की **(परिपालनार्थम्)** रक्षा के लिए **(किम्)** क्या **(मृगेन्द्रम् न अभ्येति)** सिंह के सामने नहीं जाती? अर्थात् जाती है।

टीका—हे मुनीश्वर, भो योगीश्वर! सोऽहं मानतुंगाचार्यः। तथापि तथाविधः सन्। तव परमेश्वरस्य। भक्तिवशात् भक्त्या लीनः सन्। विगत-शक्तिरपि स्तवं कर्तुमुद्यतं प्रवृतः। विगता शक्तिरस्य। स्वस्य धाष्टर्यतां दृष्टान्तेन द्रढयति। मृगो हरिणः। प्रीत्या स्नेहेन। आत्मवीर्यं स्वपराक्रममविचार्य। निज-शिशोः स्वसन्तानस्य। परिपालनार्थं रक्षार्थं। मृगेन्द्रं सिंहं। किन्नाभ्येति, किन्न सम्मुखीभवति? अपि तु सम्मुखीभवतीत्यर्थः।

भावार्थ—हे मुनिजनों के आराध्य देव! यद्यपि आपके अनन्त गुणों का वर्णन करने की शक्ति मुझमें नहीं है, फिर भी आपकी भक्ति के वशीभूत हुआ, मैं स्तुति करने के लिए तत्पर हो रहा हूँ। सभी जानते हैं कि हिरणी कितनी ही शक्ति रहित क्यों न हो, किन्तु अपने बच्चे की रक्षा के लिए वात्सल्य भाव के वशीभूत आक्रमण करते हुए सिंह का मुकाबला करने के लिए सामने डट जाती है। (उसी प्रकार मैं भी भक्तिवश हुआ अपनी शक्ति का विचार किये बिना स्तुति करने के लिए तत्पर हो रहा हूँ)।

स्तवन में मात्र भक्ति ही कारण

अल्प-श्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद्-भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चाम्र - चारु - कलिका - निकरैक-हेतु॥६॥

अन्वयार्थ—(अल्पश्रुतम्) अल्पज्ञानी अतएव **(श्रुतवताम्)** विद्वानों की **(परिहासधाम)** हँसी के स्थानरूप **(माम्)** मुझको **(त्वद्भक्तिः एव)** आपकी भक्ति ही **(बलात्)** बलपूर्वक **(मुखरी-कुरुते)** वाचाल कर रही है **(किल)** निश्चय से **(मधौ)** वसन्त ऋतु में **(कोकिलः)** कोयल **(यत्)** जो **(मधुरम् विरौति)** मीठे शब्द करती है **(तत्)** वह **(आम्रचारु-कलिका-निकरैक-हेतु)** आम की सुन्दर मँजरी के समूह के कारण ही करती है।

टीका—भो सर्वज्ञ! त्वद्भक्तिरेव बलात्प्रसह्य। मां मानतुङ्गाचार्यं। मुखरी-कुरुते वाचालयतीत्यर्थः। कथंभूतं मामल्पश्रुतं शास्त्रं यस्य स तम्। पुनः कथंभूतं माम्? श्रुतवतां पण्डितानां मध्ये। परिहासस्य धाम गृहं हासस्य भाजनं। अजहल्लिङ्गत्वादेवं। अन्यथा परिहासधामानं पुल्लिङ्गे भवति। स्वस्योत्साहतां दृष्टान्तेन द्रढयति। किल इति सत्ये। यत्कोकिलो मधौ वसन्ते। मधुरं विरौति ब्रूते। तत् चारवः मनोज्ञा या आम्रकलिका आम्रमञ्जर्यस्तासां निकरः स एव एकहेतुर्यस्य तत्।

भावार्थ—हे प्रभो जिस प्रकार वसन्त ऋतु में आम की मँजरियाँ खाकर कोयल मधुर स्वर में बोलती है, उसी प्रकार आपकी भक्ति का बल

पाकर मैं भी स्तुति करने को वाचाल हो रहा हूँ। अन्यथा मैं तो अल्पज्ञ हूँ और विद्वानों के सामने उपहास का पात्र हूँ।

पापक्षयी जिनवर स्तुति

त्वत्संस्तवेन भव - सन्तति - सन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ।
आक्रान्त - लोक- मलि-नील-मशेष-माशु,
सुर्यांशु- भिन्न-मिव शार्वर-मन्धकारम्॥७॥

अन्वयार्थ—(त्वत्संस्तवेन) आपकी स्तुति से **(शरीरभाजाम्)** प्राणियों के **(भवसन्तति-सन्निबद्धम्)** अनेक भवों के बँधे हुए **(पापम्)** पाप कर्म, **(आक्रान्तलोकम्)** सम्पूर्ण लोक में व्याप्त **(अलिनीलम्)** भौंरे के समान काले **(सूर्यांशुभिन्नम्)** सूर्य की किरणों से खण्डित **(शार्वरम्)** रात्रि सम्बन्धी **(अशेषम्)** समस्त **(अन्धकारम् इव)** अन्धकार की तरह **(क्षणात्)** क्षण भर में **(आशु)** शीघ्र ही **(क्षयम्)** विनाश को **(उपैति)** प्राप्त हो जाते हैं।

टीका—भो नाथ! त्वत्संस्तवेन कृत्वा। शरीरभाजां प्राणिनां। भवसन्तति-सन्निबद्धं नानाजन्मान्तरनिबद्धं। पापं क्षणात् क्षणमात्रेण। क्षयं ध्वंसं। उपैति प्राप्नोति। भवानां सन्ततिः श्रेणिस्तया सन्निबद्धं। स्वस्य स्तवनमाहात्म्यं दृष्टान्तेन दृढयति। किमिव शार्वरमन्धकारमिव। यथा शार्वरं रात्रिसम्बन्धि अन्धकारं। सूर्यांशुभिर्भिन्नं। तत् आशुशीघ्र अशेषं समग्रं क्षयं याति। कथंभूतमन्धकारं। आक्रान्ता पीडिता लोका येन तत्। पुनरलयो भ्रमरास्तद्वन्नीलं।

भावार्थ—जिस प्रकार समस्त संसार को आच्छादित करने वाला भौंरे के समान काला नीला सघन अन्धकार सूर्य की किरण निकलते ही छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार हे आदिदेव! आपकी भक्ति में लीन होने वाले प्राणियों के अनेक जन्मों के संचित पाप-कर्म तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं।

प्रभु की प्रभुता का प्रभाव

मत्वेति नाथ ! तव संस्तवनं मयेद -
मारभ्यते तनु - धियाऽपि तव प्रभावात् ।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनी - दलेषु ,
मुक्ता-फल-द्युति-मुपैति ननूद-बिन्दुः॥८॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन्! **(इति मत्वा)** ऐसा मानकर **(मया तनुधिया अपि)** मुझ मन्द बुद्धि के द्वारा भी **(तव)** आपका **(इदम्)** यह **(संस्तवनम्)** सम्यक् स्तवन **(आरभ्यते)** प्रारम्भ किया जाता है जो कि **(तव प्रभावात्)** आपके प्रभाव से **(सताम्)** सज्जनों के **(चेतः)** चित्त को **(हरिष्यति)** हरेगा **(ननु)** निश्चय से **(उदबिन्दुः)** जल की बूँद **(नलिनी-दलेषु)** कमलिनी के पत्तों पर **(मुक्ताफलद्युतिम् उपैति)** मोती जैसी कान्ति को प्राप्त होती है।

टीका—मत्वेति मत्वा मनसेत्यवबुद्ध्य। इदं प्रसिद्धं। तव संस्तवनं आरभ्यते प्रारभ्यते। कथंभूतेन मया तन्वी स्वल्पा धीर्बुद्धिर्यस्य स तेन। तथापि तव प्रभावाद्-भगवन्माहात्म्यात्। सतां सत्पुरुषाणां। चेतो हरिष्यति। ननु निश्चितं। उद्बिन्दुर्जलकणः। नलिनीदलेषु कमलिनी पत्रेषु। मुक्ताफलस्य द्युतिं दीप्तिमुपैति प्राप्नोति। नलिनीनां दलानि नलिनीदलानि तेषु। मुक्ताफलस्य द्युतिर्मुक्ताफल-द्युतिस्ताम्।

भावार्थ—हे नाथ! जिस तरह कमलिनी के पत्र पर पड़ी हुई पानी की बूँदे मोती की तरह सुन्दर दिखकर लोगों के चित्त को हरती है, उसी तरह मुझ अल्पज्ञ के द्वारा की हुई स्तुति भी आपके प्रभाव से सज्जनों के चित्त को हरेगी।

कथा भी पापनाशक है

आस्तां तव स्तवन-मस्त - समस्त - दोषं,
त्वत्सङ्कथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥९॥

अन्वयार्थ–(अस्तसमस्तदोषम्) सम्पूर्ण दोषों से रहित **(तव स्तवनम्)** आपका स्तवन **(आस्ताम्)** दूर रहे, किन्तु **(त्वत्सङ्कथा अपि)** आपकी पवित्र कथा भी **(जगताम्)** जगत् के जीवों के **(दुरितानि)** पापों को **(हन्ति)** नष्ट कर देती है **(सहस्रकिरण:)** सूर्य **(दूरे 'अस्ति')** दूर रहता है, पर उसकी **(प्रभा एव)** प्रभा ही **(पद्माकरेषु)** तालाबों में **(जलजानि)** कमलों को **(विकासभाञ्जि)** विकसित **(कुरुते)** कर देती है।

टीका–भो नाथ! तव परमेश्वरस्य। स्तवनं दूरे आस्तां तिष्ठतु। त्वत्संकथाऽपि भागवती वार्ताऽपि। जगतां लोकानां। दुरितानि पापानि हन्ति स्फुटयति। तव सम्यग्भूता कथा त्वत्संकथा। कथंभूतं स्तवनं? अस्ता निर्गता: समस्ता दोषा यस्य तत्। सहस्रकिरण: सहस्ररश्मि: दूरे वर्तते तस्य। प्रभैव पद्माकरेषु सरसीषु। जलजानि कमलानि। विकासभाञ्जि विकचानि कुरुते विदधातीत्यर्थ:। विकासं भजन्ति तानि विकासभाञ्जि। यस्य प्रभाया एतादृक् माहात्म्यं सर्वोत्कृष्टं तस्य सहस्रकिरणस्य का कथा। एवं यस्य कथाया: सकाशादेतादृक् माहात्म्यं तस्य स्तवनस्य का कथा? भगवत: स्तवनस्य माहात्म्यं सर्वोत्कृष्टम् इति भाव:।

भावार्थ–प्रभो! आपके निर्दोष स्तवन में तो अनन्त शक्ति है ही, पर आपकी पवित्र चर्चा में भी जीवों के पाप नष्ट करने की सामर्थ्य है। जैसे कि सूर्य के दूर रहने पर भी उसकी उज्ज्वल किरणों में कमलों को विकसित करने की सामर्थ्य रहती है।

भगवत् पददातृ भक्ति

नात्यद्भुतं भुवन-भूषण ! भूत - नाथ!
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्त - मभिष्टुवन्त:।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥१०॥

अन्वयार्थ–(भुवनभूषण!) हे संसार के भूषण! **(भूतनाथ!)** हे प्राणियों के स्वामी! **(भूतै:)** सच्चे **(गुणै:)** गुणों के द्वारा **(भवन्तम्**

अभिष्टु-वन्तः) आपकी स्तुति करने वाले पुरुष (**भुवि**) पृथ्वी पर (**भवतः**) आपके (**तुल्याः**) बराबर (**भवन्ति**) हो जाते हैं (**'इदम्' अत्यद्-भुतम् न**) यह अति आश्चर्य की बात नहीं है (**वा**) अथवा (**ननु**) निश्चय से (**तेन**) उस स्वामी से (**किम्**) क्या प्रयोजन है? (**यः**) जो (**इह**) इसलोक में (**आश्रितम्**) अपने आधीन पुरुष को (**भूत्या**) सम्पत्ति के द्वारा (**आत्मसमम्**) अपने बराबर (**न करोति**) नहीं करता।

टीका—हे भुवनभूषण! हे भूतनाथ! भूतैः सत्यैर्गुणैः। भुवि पृथिव्यां। भवन्तं परमेश्वरं। अभिष्टुवन्तः पुमांसः। भवतस्तव। तुल्याः समाना भवंति। न अत्यद्भुतं महाश्चर्यं न। भुवनानां भूषणं भुवनभूषणं तस्यामन्त्रणे। भूतानां प्राणिनां नाथ। अथवा भूतानां देवानां नाथ तस्य सम्बोधने। अभिसमन्तात् स्तुवंति इत्यभिष्टुवन्तः। वा अथवा। ननु निश्चितं। यः पुमान्। इह पृथिव्यामाश्रितं जनं। भूत्या स्वसमृद्ध्या। आत्मसमं न करोति स्वतुल्यं न विदधाति। तेन स्वामिना किं कार्यं भवति? अपि तु न भवतीत्यर्थः।

भावार्थ—हे स्वामिन्! जिस तरह उत्तम मालिक अपने नौकर को सम्पत्ति देकर अपने समान बना लेता है, उसी तरह आप भी अपने भक्तों को अपने समान शुद्ध बना लेते हैं।

परम दर्शनीय परमात्म प्रभु

दृष्ट्वा भवन्त - मनिमेष - विलोकनीयं,
नान्यत्र - तोष - मुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकर - द्युति -दुग्ध-सिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधे रसितुं क इच्छेत्?॥११॥

अन्वयार्थ—(**अनिमेषविलोकनीयम्**) बिना पलक झपकाये एकटक देखने के योग्य (**भवन्तम्**) आपको (**दृष्ट्वा**) देखकर (**जनस्य**) मनुष्यों के (**चक्षुः**) नेत्र (**अन्यत्र**) दूसरी जगह (**तोषम्**) सन्तोष को (**न उपयाति**) प्राप्त नहीं होते (**शशिकरद्युति-दुग्धसिन्धोः**) चन्द्रमा की किरणों के समान कान्ति वाले क्षीरसमुद्र के (**पयः**) पानी को (**पीत्वा**) पीकर (**कः**) कौन पुरुष (**जलनिधेः**) समुद्र के (**क्षारम्**) खारे (**जलम्**) पानी

को **(रसितुम् इच्छेत्)** पीने की इच्छा करेगा? अर्थात् कोई नहीं।

टीका—भो नाथ! जनस्य सम्यक्त्वधारिणो लोकस्य। चक्षुर्नेत्रं। भवन्तं भगवन्तं। दृष्ट्वान्यत्र हरिहरादिषु देवेषु। तोषं प्रमोदं। न उपयाति न व्रजति। चक्षुरित्यर्थे जात्यपेक्षयैकवचनं। कथंभूतं भवन्तं? अनिमेषेण विलोकनीयः अनिमेष-विलोकनीयस्तं। कः पुमान् शशिकरद्युति दुग्धसिन्धोः क्षीरसमुद्रस्य पयः पीत्वा, जलनिधेः क्षारसमुद्रस्य क्षारं जलं। रसितुमास्वादितुं। इच्छेत् वाञ्छेत्? अपि तु न कोऽपीत्यर्थः।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस तरह क्षीर समुद्र के निर्मल जल को पीने वाला मनुष्य अन्य समुद्र के खारे पानी को पीने की इच्छा नहीं करता उसी तरह आपके सुन्दर रूप को देखने वाले मनुष्य किसी दूसरे सुन्दर पदार्थ को नहीं देखना चाहते। आप सबसे अधिक सुन्दर हैं।

अद्वितीय अनुपम सुन्दरता

यैः शान्त-राग-रुचिभिः परमाणुभिस्त्वम्,
निर्मापितस् - त्रिभुवनैक - ललाम -भूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समान-मपरं न हि रूप-मस्ति॥१२॥

अन्वयार्थ—(त्रिभुवनैकललामभूत!) हे त्रिभुवन के एक आभूषण! **(त्वम्)** आप **(यैः)** जिन **(शान्तरागरुचिभिः)** शान्त हो गई है रागादि दोषों की इच्छा जिनकी ऐसे **(परमाणुभिः)** परमाणुओं के द्वारा **(निर्मापितः)** रचे गये हैं **(खलु)** निश्चय से **(पृथिव्याम्)** पृथ्वी पर **(ते अणवः अपि)** वे अणु भी **(तावन्तः एव 'बभूवुः')** उतने ही थे **(यत्)** क्योंकि **(ते समानम्)** आपके समान **(अपरम्)** दूसरा **(रूपम्)** रूप **(नहि)** नहीं **(अस्ति)** है।

टीका—भो त्रिभुवनैकलालमभूत! यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिः कृत्वा। त्वं भवान् निर्मापित उत्पादितः। खलु निश्चितं। तेप्यणवः पृथिव्यां तावन्त एव विद्यन्ते। कुतो हेतोः? यद्यस्मात्कारणात् ते तव। समानं सदृशं। परं रूपं न ह्यस्ति। शान्ता उपशमं प्राप्ता रागाणां इति रागद्वेषादीनां रुचय

इच्छा येषान्ते तैः। त्रिभुवनस्य मध्ये योऽद्वितीयः ललामभूतो रत्नसमान-स्त्रिभुवनैक-ललाम-भूतस्तस्यामंत्रणे।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जिन परमाणुओं से आपकी रचना हुई है, मालूम होता है कि वे परमाणु उतने ही थे। यदि उससे अधिक होते तो आपके समान दूसरा रूप भी होना चाहिए था, पर दूसरा रूप है नहीं इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे उतने ही थे। भगवन्! आप अद्वितीय सुन्दर हैं।

मुख निर्दोषी चन्द्रवत्

वक्त्रं क्व ते सुर-नरोरग - नेत्र - हारि,
निःशेष - निर्जित - जगत्-त्रितयोपमानम् ।
बिम्बं कलङ्क - मलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डु-पलाश-कल्पम्॥१३॥

अन्वयार्थ—(सुरनरोरगनेत्रहारि) देव, मनुष्य तथा धरणेन्द्रों के नेत्रों को हरण करने वाला एवं **(निःशेष-निर्जित-जगत्-त्रितयोपमानम्)** सम्पूर्णरूप से जीत लिया है तीनों जगत् की उपमाओं को जिसने ऐसा **(ते वक्त्रम्)** आपका मुख **(क्व)** कहाँ? और **(कलङ्कमलिनम्)** कलंक से मलीन **(निशाकरस्य)** चन्द्रमा का **('तद्' बिम्बम्)** वह मण्डल **(क्व)** कहाँ? **(यत्)** जो **(वासरे)** दिन में **(पलाशकल्पम्)** ढाक के पत्ते की तरह **(पाण्डु)** फीका **(भवति)** हो जाता है।

टीका—भो नाथ! द्वौ क्व शब्दौ महदन्तरं सूचयतः। ते तव परमेश्वरस्य वक्त्रं क्व ? इदं प्रसिद्धं निशाकरस्य चन्द्रबिम्बं क्व? कथंभूतं वक्त्रं? सुराश्च नराश्चोरगाश्च सुरनरोरगास्तेषां नेत्राणि हरतीति सुरनरोरगनेत्रहारि। पुनः निःशेषाणि समग्राणि निर्जितानि जगतां त्रितयस्य उपमानानि येन तत्। कथंभूतं चन्द्रबिम्बं। कलङ्केन मलिनं यच्चंद्रबिम्बं। वासरे दिवसे। पाण्डुपलाशकल्पं भवति। पलाशस्य पत्रं पलाशं। पाण्डु च तत्पलाशं च पाण्डुपलाशं पाण्डुपलाशादिवन्नूनं पाण्डुपलाश-कल्पम्।

भावार्थ—नाथ! जो लोग आपके मुख को चन्द्रमा की उपमा देते हैं वे गलती करते हैं। क्योंकि आपके मुख की शोभा कभी नष्ट नहीं होती

और चन्द्रमा की शोभा दिन में नष्ट हो जाती है, इसके अतिरिक्त वह कलंकी है और आपका मुख कलंक रहित है।

लोकव्यापी गुण वर्णन

सम्पूर्ण-मण्डल - शशाङ्क - कलाकलाप-
शुभ्रा गुणास् - त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति।
ये संश्रितास् - त्रिजगदीश्वरनाथ - मेकम्,
कस्तान् निवारयति सञ्चरतो यथेष्टम्॥१४॥

अन्वयार्थ—(सम्पूर्णमण्डलशशाङ्क-कलाकलाप-शुभ्राः) पूर्ण चन्द्र-बिम्ब की कलाओं के समूह के समान स्वच्छ **(तव)** आपके **(गुणाः)** गुण **(त्रिभुवनम्)** तीनों लोकों को **(लङ्घयन्ति)** लाँघ रहे हैं/ सब जगह फैले हुए हैं सो ठीक ही है, क्योंकि **(ये)** जो **(एकम्)** मुख्य **(त्रिजगदीश्वर-नाथम्)** तीनों लोकों के नाथों के नाथ के **(संश्रिताः)** आश्रित हैं **(तान्)** उन्हें **(यथेष्टम्)** इच्छानुसार **(संचरतः)** घूमते हुए **(कः)** कौन **(निवारयति)** रोक सकता है? अर्थात् कोई नहीं।

टीका—भो परमेश्वर! तव परमेश्वरस्य गुणास्त्रिभुवनं लङ्घयन्ति। ये गुणा एकं त्रिजगदीश्वरनाथमिन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्तिस्वामिनं। संश्रिताः आश्रिताः। कः पुमान् तान् गुणान् यथेष्टं संचरतो निवारयति निवारयितुं शक्तो भवति। त्रयाणां जगतामीश्वरास्तेषां नाथस्तं। कथंभूता गुणाः। सम्पूर्ण मण्डलं यस्य स एवविधश्चासौ शशांकश्च सम्पूर्णमण्डलशशांकस्तस्य कलास्तासां कलापः समूहस्तद्वत् शुभ्रा उज्ज्वला इत्यर्थः।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस प्रकार किसी राजाधिराज के आश्रित रहने वाले पुरुष को इच्छानुसार जहाँ तहाँ घूमते रहते कोई नहीं रोक सकता उसी प्रकार आपके आश्रित रहने वाले कीर्ति आदि गुणों को तीनों लोकों में कोई नहीं रोक सकता। आपके गुण सब जगह फैले हुए हैं।

अचल मेरु सी प्रभु की थिरता

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्ग -नाभिर्-
नीतं मनागपि मनो न विकार - मार्गम् ।

कल्पान्त -काल - मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रि-शिखरं चलितं कदाचित्॥१५॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि **(ते)** आपका **(मनः)** मन **(त्रिदशाङ्ग-नाभिः)** देवांगनाओं के द्वारा **(मनाक् अपि)** थोड़ा भी **(विकारमार्गम्)** विकार भाव को **(न नीतम्)** प्राप्त नहीं कराया जा सका है **(तर्हि)** तो **(अत्र)** इस विषय में **(चित्रम् किम्)** आश्चर्य ही क्या है? **(चलिता-चलेन)** पहाड़ों को हिला देने वाली **(कल्पान्तकाल-मरुता)** प्रलयकाल की पवन के द्वारा **(किम्)** क्या? **(कदाचित्)** कभी **(मन्दराद्रिशिखरम्)** मेरुपर्वत का शिखर **(चलितम्)** हिलाया गया है? अर्थात् नहीं।

टीका—भो परमेश्वर! यदि चेत्। त्रिदशाङ्गनाभिर्देवाप्सरोभिः। ते तव भगवतो मनः। मनागति किञ्चिदपि। विकारमार्गं न नीतं प्रापितं। तर्हि अत्र किं चित्रं किमाश्चर्यं? त्रिदशानां देवानामङ्गनास्त्रिदशाङ्गनास्ताभिः। कुतः कारणात्? कल्पान्तकालमरुता प्रलयकालवायुना। किं मन्दराद्रिशिखरं मेरुशृङ्गं। कदाचित् चलितं कम्पितं। अपि तु न कम्पितमित्यर्थः। कल्पान्त-कालस्य मरुत कल्पान्त-कालमरुतेन। मन्दराद्रेः शिखरं मन्दराद्रि-शिखरं। कथंभूतेन कल्पान्तकालमरुता? चलिता विधूता अचलाः पर्वता येन स तेन।

भावार्थ–हे नाथ! जिस तरह प्रलयकाल की प्रचण्ड पवन के द्वारा मेरु पर्वत नहीं हिलाया जा सकता, उसी तरह देवाङ्गनाओं के हावभावों द्वारा आपका मन सुमेरु भी नहीं हिलाया जा सकता। आपका धैर्य अतुल है और आपने मन को अपने वश कर लिया है।

प्रभु आप अनोखे दीपक हो

निर्धूम - वर्ति - रपवर्जित-तैल - पूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रय - मिदं प्रकटी-करोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिता-चलानाम्,
दीपोऽपरस्त्व-मसि नाथ! जगत्प्रकाशः॥१६॥

अन्वयार्थ—(नाथ!) हे स्वामिन् ! आप **(निर्धूमवर्तिः)** धुआँ तथा बत्ती से रहित निर्दोष प्रवृत्ति वाले और **(अपवर्जिततैलपूरः)** तैल से शून्य

(भूत्वा अपि) होकर भी **(इदम्)** इस **(कृत्स्नम्)** समस्त **(जगत् त्रयम्)** त्रिभुवन को **(प्रकटीकरोषि)** प्रकाशित कर रहे हो तथा **(चलिताचलानाम्)** पहाड़ों को हिला देने वाली **(मरुताम्)** वायु के भी **(जातु)** कभी **(गम्यः न)** गम्य नहीं हो अर्थात् वायु बुझा नहीं सकती इस तरह **(त्वम्)** आप **(जगत्प्रकाशः)** संसार को प्रकाशित करने वाले **(अपरः दीपः)** अपूर्व दीपक **(असि)** हो।

टीका—भो नाथ! त्वं जगन्मण्डलेऽपूर्व अपरः कश्चन दीपः। असि वर्तसे। कुतो हेतोः? यत् इदं कृत्स्नं जगत्रयं युगपत्प्रकटीकरोषि उद्योतयसीत्यर्थः। कथंभूतस्तवलक्षणो दीपः? धूमश्च वर्तिश्च धूमवर्ती धूमवर्तिभ्यां निष्कान्तो निर्धूमवर्तिः। पुनः कथंभूतः? अपवर्जितो निराकृतस्तैलपूरो येन सः। पुनः कथंभूतः? जातु कदाचिन्मरुतां गम्यो न मरुता न दनीध्वस्यसे इत्यर्थः। कथंभूतानां मरुतां? चलिता अचला अद्रयो यैस्तेषां। पुनः कथंभूता? जगति त्रिभुवने प्रकाशो यस्य स दीपः सधूमवर्तिः पुनर्युक्ततैलपुरः। पुनः कथंभूतः? एकं गृहं प्रकटीकरोति स मरुतां वायूनां गम्यः स तु गृहप्रकाशकः।

भावार्थ—हे नाथ! आप समस्त संसार को प्रकाशित करने वाले अनोखे दीपक हैं क्योंकि अन्य दीपकों की बत्ती से धुआँ निकलता रहता है पर आपकी वर्ति-मार्ग निर्धूम-पाप रहित है। अन्य दीपक तेल की सहायता से प्रकाश फैलाते हैं पर आप बिना किसी की सहायता के ही प्रकाश-ज्ञान फैलाते हैं। अन्य दीपक हवा से नष्ट हो जाते हैं पर आप अविनाशी हैं। तथा अन्य दीपक थोड़ी सी जगह को प्रकाशित करते हैं पर आप समस्त लोक को प्रकाशित करते हैं।

सूर्य से भी अधिक महिमावन्त

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज् - जगन्ति।
नाम्भोधरोदर -निरुद्ध - महा - प्रभावः,
सूर्यातिशायि - महिमासि मुनीन्द्र ! लोके॥१७॥

अन्वयार्थ—(मुनीन्द्र!) हे मुनियों के इन्द्र **(त्वम्)** तुम **(कदाचित्)** कभी **(न अस्तम् उपयासि)** न अस्त होते हो **(न राहुगम्य:)** न राहु के द्वारा ग्रसे जाते हो और **(न अम्भोधरोदर-निरुद्धमहा-प्रभाव:)** न मेघों के द्वारा आपका महाप्रभाव निरुद्ध होता है तथा **(युगपत्)** एक साथ **(जगन्ति)** तीनों लोकों को **(सहसा)** शीघ्र ही **(स्पष्टीकरोषि)** प्रकाशित करते हो **(इति)** इस तरह आप **(लोके)** इस संसार में **(सूर्यातिशायिमहिमा असि)** सूर्य से भी अधिक महिमा वाले हो।

टीका—भो मुनीन्द्र! मुनीनां प्रत्यक्षज्ञानिनामिन्द्रस्तस्यामंत्रणे। लोके पृथिव्यां। त्वं सूर्यातिशायिमहिमा कदाचिदस्तं नोपयासि स सूर्य: अस्तमुपयाति। त्वं राहुगम्यो नासि स तु राहुगम्य:। त्वं सहसा वेगेन। युगपत्सहैव। जगन्ति त्रैलोक्यं स्पष्टीकरोषि उद्योतयसि। त्वमम्भोधरोदर-निरुद्धमहाप्रभावो नाम्भोधरैर्मेघैरुदरमध्ये निरुद्धो महाप्रभावो यस्य स:। स तु अम्भोधरोदर-निरुद्धमहाप्रभाव:।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी महिमा सूर्य से भी अधिक है, क्योंकि सूर्य सन्ध्या के समय अस्त हो जाता है, पर आप कभी अस्त नहीं होते। सूर्य को राहु ग्रस लेता है, पर आपको वह आजतक भी नहीं ग्रस सका है। सूर्य दिन में क्रम क्रम से सिर्फ मध्यलोक को प्रकाशित करता है, पर आप एकसाथ समस्त लोक को प्रकाशित करते हैं और सूर्य के तेज को मेघ रोक लेते हैं, पर आपके ज्ञान तेज को कोई नहीं रोक सकता।

अद्भुत है आपका मुखचन्द्र

नित्योदयं दलित - मोह - महान्धकारं,
गम्यं न राहु -वदनस्य न वारिदानाम्।
विभ्राजते तव मुखाब्ज-मनल्पकान्ति,
विद्योतयज्-जगदपूर्व-शशाङ्क - बिम्बम्॥१८॥

अन्वयार्थ—(नित्योदयम्) हमेशा उदय रहने वाला **(दलित-मोह-महान्धकारम्)** मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाला **(राहुवदनस्य न गम्यम्)** राहु के मुख के द्वारा ग्रसे जाने के अयोग्य **(वारिदानां न गम्यम्)**

मेघों के द्वारा छिपाने के अयोग्य **(अनल्पकान्ति)** अधिक कान्तिवाला और **(जगत्)** संसार को **(विद्योतयत्)** प्रकाशित करने वाला **(तव)** आपका **(मुखाब्जम्)** मुखकमलरूपी **(अपूर्व-शशाङ्कबिम्बम्)** अपूर्व चन्द्रमण्डल **(विभ्राजते)** शोभित होता है।

टीका—भो जगदीश्वर! तव भगवतो। मुखाम्बुजं वक्त्रकमलं। अपूर्वशशाङ्क बिम्बं किञ्चिन्नवचन्द्रमण्डलं। विभ्राजते शोभते। भ्राजंदीप्ता-वित्यस्य धातोः प्रयोगः। कथंभूतं तव मुखाब्जं? नित्यमजस्रमुदयो यस्य तत्। तत्तु कदाचिदुदयम्। पुनर्दलितं स्फेटितं मोहलक्षणं महान्धकारं येन तत्। पुनः राहुवदनस्य गम्यं न। पुनः वारिदानां मेघानां न गम्यं। पुनरनल्पा प्रबला कांतिः रुक् यस्य तत्। पुनर्जगत्त्रैलोक्यं विद्योतयत् अपूर्वमेव शशाङ्कबिम्बम-पूर्वशशाङ्क बिम्बम्।

भावार्थ—हे भगवन्! आपका मुखकमल अपूर्व चन्द्रमा है क्योंकि यह चन्द्रमा दिन में अस्त हो जाता है पर आपका मुखचन्द्र हमेशा उदित रहता है। चन्द्रमा सिर्फ अन्धकार को नष्ट करता है पर आपका मुखचन्द्र मोहरूपी अन्धकार को भी नष्ट कर देता है। चन्द्रमा राहु के द्वारा ग्रसा जाता है पर आपके मुखचन्द्र को राहु नहीं ग्रस सकता। चन्द्रमा को बादल छिपा लेते हैं पर आपके मुखचन्द्र को बादल नहीं छिपा सकते। चन्द्रमा की कान्ति कृष्ण पक्ष में घट जाती है और आपके मुख चन्द्र की कांति हमेशा बढ़ती ही रहती है और चन्द्रमा सिर्फ मध्यलोक को प्रकाशित करता है पर आपका मुखचन्द्र तीनों लोकों को प्रकाशित करता है।

तमहारी मुखचन्द्र ही

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा,
युष्मन्मुखेन्दु - दलितेषु तमःसु नाथ!
निष्पन्न -शालि-वन -शालिनि जीव-लोके,
कार्यं कियज्जल-धरै-र्जलभार-नम्रैः॥१९॥

अन्वयार्थ—(नाथ!) हे स्वामिन्! **(तमःसु)** अन्धकार के **(युष्मन्मुखेन्दु दलितेषु)** आपके मुखचन्द्र द्वारा नष्ट हो जाने पर **(शर्वरीषु)**

रात में **(शशिना)** चन्द्रमा से **(वा)** अथवा **(अह्नि)** दिन में **(विवस्वता)** सूर्य से **(किम्)** क्या प्रयोजन है? **(निष्पन्नशालिवनशालिनि)** पके हुए धान्य के खेतों से शोभायमान **(जीवलोके)** संसार में **(जलभारनम्रैः)** पानी के भार से झुके हुए **(जलधरैः)** मेघों से **(कियत्)** कितना **(कार्यम्)** काम रह जाता है।

टीका—भो नाथ! युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु भवन्मुखचन्द्रस्फेटितेषु। तमस्सु अन्धकारेषु। शर्वरीषु रात्रिषु। शशिना चन्द्रेण किं कार्यं? वा अथवा। अह्नि दिवसे। विवस्वता सूर्येण किं कार्यं? युष्मत्तवमुखमेवेन्दुश्चन्द्रस्तेन दलितानि तेषु। जीवलोके पृथिव्यां। निष्पन्नशालिवनशालिनि सति जलभार-नम्रैर्जलधरैर्मेघैः कियत्कार्यं किं प्रयोजनं? निष्पन्नानि च तानि शालीनां वनानि च निष्पन्नशालिवनानि तैः शालते शोभत इति निष्पन्नशालिवनशालि तस्मिन् निष्पन्नशालिवनशालिनि। जलभारेण नम्रा जलभारनम्रास्तैः।

भावार्थ—हे प्रभो! जिस तरह संसार में धान्य के पक जाने पर बादलों से कोई लाभ नहीं होता उसी तरह आपके मुखचन्द्र के द्वारा अन्धकार नष्ट हो जाने पर दिन में सूर्य से और रात में चन्द्रमा से कोई लाभ नहीं है।

प्रभु का ज्ञानातिशय

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरि - हरादिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काच-शकले किरणाकुलेऽपि॥२०॥

अन्वयार्थ—**(कृतावकाशम्)** अवकाश को प्राप्त **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(यथा)** जिस तरह **(त्वयि)** आपमें **(विभाति)** शोभायमान होता है **(एवं तथा)** उस तरह **(हरिहरादिषु)** विष्णु, शंकर आदि **(नायकेषु)** देवों में **(न 'विभाति')** शोभायमान नहीं होता **(तेजः)** तेज **(स्फुरन्मणिषु)** चमकते हुए मणियों में **(यथा)** जैसे **(महत्त्वम्)** महत्त्व को **(याति)** प्राप्त होता है **(तु)** निश्चय से **(एवं)** वैसे महत्त्व को **(किरणाकुले अपि)** किरणों से

व्याप्त भी **(काचशकले)** काँच के टुकड़े में **(न 'याति')** नहीं प्राप्त होता।

टीका—भो देव! यथा त्वयि विषये ज्ञानं कैवल्यं कृतावकाशं विभाति शोभते। तथा हरिहरादिषु नायकेषु ब्रह्माविष्णुमहेशेषु एवं ज्ञानं कृतावकाश नास्ति। कृतोऽवकाशः स्थानं यस्य तत्। हरिहरा आदिर्येषां ते हरिहरादयस्तेषु। यथा तेजो जात्येषु महामणिषु महत्वं याति प्राप्नोति। तथा तु पुनः किरणाकुलेऽपि काचशकले एवं तेजो महत्वं न याति। महान्तश्च ते मणयश्च काचस्य शकलं काचशकलं तस्मिन्। किरणैर्शुक्लं व्याप्तं तस्मिन्। भो देव! यत्त्वयि विषये ज्ञानं। विभ्राजते शोभते। तज्ज्ञानं हरिहरादिषु देवेषु नास्ति। यदि चेदेवं ज्ञानं स्यात् तदा परिभ्रमणं कथं कुर्वन्तीत तात्पर्यार्थः।

भावार्थ–हे प्रभो! लोक अलोक को जानने वाले निर्मल ज्ञान जिस तरह आप में शोभा को प्राप्त होता है उस तरह ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि देवों में नहीं होता। तेज की शोभा महामणियों में ही होती है न कि कांच के टुकड़े में भी।

पूर्ण संतुष्टिदायक प्रभुदर्शन

मन्ये वरं हरि - हरा - दय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन्मनो हरति नाथ! भवान्तरेऽपि॥२१॥

अन्वयार्थ–(नाथ!) हे स्वामिन् ! **(मन्ये)** मैं मानता हूँ कि **(दृष्टाः)** देखे गये **(हरिहरादयः एव)** विष्णु, महादेव आदि देव ही **(वरम्)** अच्छे हैं **(येषु दृष्टेषु 'सत्सु')** जिनके देखे जाने पर **(हृदयम्)** मन **(त्वयि)** आपके विषय में **(तोषम्)** सन्तोष को **(एति)** प्राप्त हो जाता है **(वीक्षितेन)** देखे गये **(भवता)** आपसे **(किम्)** क्या लाभ है? **(येन)** जिससे कि **(भुवि)** पृथ्वी पर **(अन्यः कश्चित्)** कोई दूसरा देव **(भवान्तरे अपि)** जन्मान्तर में भी **(मनः)** चित्त को **(न हरति)** नहीं हर पाता।

टीका—नाथ! अहमेवम्मन्ये हरिहरादय एव देवा। वरं दृष्टा समीचीनं

विलोकिताः। कुतश्चेत्तेषु दृष्टेषु सत्सु हृदयं ममान्तःकरणं। त्वयि भगवति विषये। तोषं प्रमोदं। एति प्राप्नोतीत्यर्थः। भो देव! भवता श्रीतीर्थङ्करपरमदेवेन। वीक्षितेन किं भवति? एतदेव भवति। येन कारणेनान्य; कश्चिद्देवः। भुवि पृथिव्यां। भवान्तरेऽपि परजन्मन्यपि। मनो न हरति अन्तःकरणं न विकलीकरोति।

भावार्थ—इस श्लोक में व्याजोक्ति अलंकार से विपरीत कथन किया गया है। श्लोक का अविरुद्ध अर्थ यह है कि हे प्रभो! संसार में आप ही सर्वश्रेष्ठ देव हैं। आपके दर्शन से चित्त को इतना सन्तोष होता है कि वह मरने के बाद भी किसी दूसरे देव के दर्शन नहीं करना चाहता। हरि-हर आदि देव रागी-द्वेषी हैं उनके दर्शन से चित्त सन्तुष्ट नहीं होता। इसीलिए वह आप जैसे देवों के दर्शनों की इच्छा रखता है।

आपकी माँ धन्य हैं

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्र-रश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(स्त्रीणाम् शतानि) स्त्रियों के शतक अर्थात् सैकड़ों स्त्रियाँ **(शतशः)** सैकड़ों **(पुत्रान्)** पुत्रों को **(जनयन्ति)** पैदा करती हैं, परन्तु **(त्वदुपमम्)** आप जैसे **(सुतम्)** पुत्र को **(अन्या)** दूसरी **(जननी)** माँ **(न प्रसूता)** पैदा नहीं कर सकी **(भानि)** नक्षत्रों को **(सर्वाः दिशः)** सब दिशाएँ **(दधति)** धारण करती हैं, परन्तु **(स्फुरदंशुजालम्)** चमक रहा है किरणों का समूह जिसका ऐसे **(सहस्ररश्मिम्)** सूर्य को **(प्राची दिक् एव)** पूर्व दिशा ही **(जनयति)** प्रकट करती है।

टीका—भो परमेश्वर भो देवाधिदेव! स्त्रीणां शतानि नाना स्त्रियः। शतशोऽनेकशः पुत्राञ्जनयन्ति। पुनरन्या काचन जननी त्वदुपम् भवता तुल्यं सुतं। न प्रसूता न जनिता। त्वयोपमीयतेः सौ त्वदुपमस्तं। सर्वा एव दिशः। भानि नक्षत्राणि। दधति धरन्ति। प्राच्येव पूर्वदिगेव। स्फुरदंशुजालं सहस्त्ररश्मि

सूर्यं। जनयति उत्पादयति। स्फुरन्ति दीप्यमानानि अंशुजालानि यस्य सः स्फुरदंशुजालस्तं। परं त्वदुपमां नैतीति तात्पर्यम्।

भावार्थ–हे नाथ! जिस तरह सूर्य को पूर्व दिशा के सिवाय अन्य दिशाएँ प्रकट नहीं कर पातीं, उसी तरह आपको आपकी माता के सिवाय अन्य माता पैदा नहीं कर सकीं। आप भाग्यशालिनी माता के अद्वितीय भाग्यशाली पुत्र हैं।

मृत्युंजयी श्रेयस पथ जिनदेव ही

त्वामा-मनन्ति मुनयः परमं पुमान्स-
मादित्य - वर्ण - ममलं तमसः पुरस्तात्।
त्वामेव सम्य - गुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः॥२३॥

अन्वयार्थ–(मुनीन्द्र!) हे मुनियों के नाथ! **(मुनयः)** तपस्वीजन! **(त्वाम्)** आपको **(आदित्यवर्णं अमलम्)** सूर्य की तरह तेजस्वी, निर्मल और **(तमसः पुरस्तात्)** मोहान्धकार से परे रहने वाले **(परमं पुमांसम्)** परम पुरुष **(आमनन्ति)** मानते हैं वे **(त्वाम् एव)** आपको ही **(सम्यक्)** अच्छी तरह से **(उपलभ्य)** प्राप्त कर **(मृत्युम्)** मृत्यु को **(जयन्ति)** जीतते हैं इसके सिवाय **(शिवपदस्य)** मोक्षपद का **(अन्यः)** दूसरा **(शिवः)** अच्छा **(पन्थाः)** रास्ता **(न अस्ति)** नहीं है।

टीका–भो भगवन्, भो देव! मुनयः योगीश्वराः। त्वां परमं पुमान्सं सर्वोत्कृष्टपुरुषं। आमनन्ति अङ्गीकुर्वन्ति इत्यर्थः। भो नाथ! मनुयस्त्वाम् तमसोऽन्धकारस्य पुरस्तात्। अमलं भासमानमादित्यवर्णं सूर्यमामनन्ति। भो मुनीन्द्र मनुयस्त्वामेव भगवन्तं सम्यगुपलभ्य परिप्राप्य मृत्युं जयन्ति। शिवपदस्य शिवस्थानस्यान्यः पन्था मार्गः शिवः कल्याणकारी न स्यात्।

भावार्थ–सांख्य मतवाले कमलपत्र की तरह निर्लेप, शुद्ध, ज्ञानरूप पुरुष को मानते हैं और अन्त में प्रकृतिजन्य विकारों को छोड़कर पुरुष की प्राप्ति को मोक्ष मानते हैं। आचार्य मानतुंग ने अपनी व्यापक दृष्टि से भगवान् को ही परम पुरुष बतलाया है और साथ में यह भी कहा है कि

आपको अच्छी तरह प्राप्तकर जानकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। जो आप से दूर रहते हैं उन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

विभिन्न नाम आपके ही

त्वा - मव्ययं विभु-मचिन्त्य-मसंख्य-माद्यं,
ब्रह्माण-मीश्वर- मनंत - मनङ्ग - केतुम्।
योगीश्वरं विदित - योग - मनेक-मेकं,
ज्ञान-स्वरूप-ममलं प्रवदन्ति सन्तः॥२४॥

अन्वयार्थ—(सन्तः) सज्जन-पुरुष **(त्वाम्)** आपको **(अव्ययम्)** अविनाशी **(विभुम्)** विभु, **(अचिन्त्यम्)** अचिन्त्य, **(असंख्यम्)** असंख्य, **(आद्यम्)** आद्य **(ब्रह्माणम्)** ब्रह्मा, **(ईश्वरम्)** ईश्वर, **(अनंतम्)** अनन्त, **(अनङ्गकेतुम्)** अनङ्गकेतु **(योगीश्वरम्)** योगीश्वर **(विदितयोगम्)** विदित योग, **(अनेकम्)** अनेक, **(एकम्)** एक **(ज्ञानस्वरूपम्)** ज्ञानस्वरूप और **(अमलम्)** अमल **(प्रवदन्ति)** कहते हैं।

टीका—भो नाथ! सन्तः सत्पुरुषाः। त्वां एवंविध वदन्ति कथयन्तीत्यर्थः। कथंभूतं त्वां? विभुं ज्ञानस्वरूपेण व्यापकमित्यर्थः। पुनरचिन्त्यं अनेकातिशयैः कृत्वा चिन्तयितुं न शक्यमित्यर्थः। पुनरसंख्यं असंख्यातगुणैः कृत्वा संख्यारहितमित्यर्थः। पुनराद्यं एतदेवावसर्पिणी कालसम्बन्धिचतुर्विंशति-तीर्थङ्कराणां मध्ये प्रथममित्यर्थः। पुनः कथंभूतं? ब्रह्माणं परब्रह्म-स्वरूपाढ्यमित्यर्थः। पुनः कथं? ईश्वरमष्टप्रातिहार्यादि-समवसरणर्द्धि-विराजमानत्वात्। पुनः कथं? अनन्तमनन्तदर्शनज्ञान-सुखवीर्याणामानन्त्यात्। पुनः कथं? अनङ्गकेतु[१] कामप्रज्वलने केतूर्धूमकेतुः कन्दर्पस्य दहनत्वात्। पुनः कथं? योगीश्वरं योगिनां कैवल्यादि-मुनीनामीश्वरस्तं तीर्थङ्करत्वात्। पुनः कथं विदितयोगं विदिता ज्ञाता योगा ध्यानानि रत्नत्रयस्वरूपव्यापारा येन स तं। पुनः कथं? अनेकं अनेकानन्त-तीर्थङ्कर नामत्वात्। पुनः कथं? एकं त्रैलोक्यमध्ये एकोऽद्वितीयः तं

---

१. पूर्वपदलोपे केतु पदेन धूमकेतुरग्निर्गृह्यते अथवा—अनङ्गाय केतुरिव इत्यनङ्ग-केतुः कामविनाशसूचकः केतुग्रहविशेषः इत्यर्थः।

सर्वोत्तमज्ञानस्वरूपमयत्वात् ज्ञानस्वरूपं त्वां भणन्ति। पुनः कथं? अमलं मलरहितमष्टकर्म विनाशकत्वात्।

भावार्थ—भगवन् आपकी आत्मा का कभी नाश नहीं होता इसलिए सत्पुरुष आपको 'अव्यय' अविनाशी कहते हैं। आपका ज्ञान तीनों लोकों में फैला हुआ है इसलिए आपको विभु व्यापक कहते हैं। आपके स्वरूप को कोई चिन्तन नहीं कर सकता इसलिए आपको अचिन्त्य चिन्तन के अयोग्य कहते हैं। आपके गुणों की संख्या नहीं है इसलिए आपको 'असंख्य' गणना रहित कहते हैं। आप युग के आदि में हुए अथवा चौबीस तीर्थंकरों में आदि हैं, इसलिए आपको आद्य प्रथम कहते हैं। आप सब कर्मों से रहित हैं अथवा अनन्त गुणों से बढ़े हुए हैं इसलिए आपको ब्रह्मा कहते हैं। आप कृतकृत्य हैं इसलिए आपको 'ईश्वर' कहते हैं। आप सामान्य स्वरूप की अपेक्षा अन्तरहित हैं इसलिए आपको 'अनन्त' कहते हैं। आप काम को नष्ट करने के लिए केतुग्रह की तरह हैं इसलिए आपको 'अनङ्गकेतु' कहते हैं। आप योगियों मुनियों के स्वामी हैं इसलिए आपको 'योगीश्वर' कहते हैं। आप योग ध्यान वगैरह को जानने वाले हैं इसलिए आपको 'विदितयोग' कहते हैं। आप पर्यायों की अपेक्षा अनेकरूप हैं इसलिए आपको 'अनेक' कहते हैं। आप सामान्यस्वरूप की अपेक्षा एक हैं इसलिए आपको एक कहते हैं। आप केवलज्ञान रूप हैं इसलिए आपको 'ज्ञानस्वरूप' कहते हैं। तथा आप कर्ममल से रहित हैं इसलिए आपको 'अमल' कहते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, शंकर और बुद्ध आप ही है

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित - बुद्धि - बोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवन-त्रय - शङ्करत्वात् ।
धातासि धीर ! शिव - मार्ग-विधेर्विधानाद्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि॥२५॥

अन्वयार्थ—(विबुधार्चितबुद्धिबोधात्) देव अथवा विद्वानों के द्वारा पूजित बुद्धि-ज्ञान वाले होने से **(त्वम् एव)** आप ही **(बुद्धः)** बुद्ध हैं।

(भुवनत्रय-शङ्करत्वात्) तीनों लोकों में शान्ति करने के कारण **(त्वम् एव)** आप ही **(शङ्करः असि)** शंकर हो **(धीर!)** हे धीर! **(शिवमार्ग-विधेर्विधानात्)** मोक्षमार्ग की विधि के करने से **(त्वमेव)** आप ही **(धाता असि)** ब्रह्मा हो और **(भगवन् !)** हे स्वामिन्! **(त्वमेव)** आप ही **(व्यक्तम्)** स्पष्ट रूप से **(पुरुषोत्तमः असि)** मनुष्यों में उत्तम अथवा नारायण हो।

टीका—भो भगवन्! त्वमेव बुद्धोऽसि बुद्धदेवोऽसीत्यर्थः। कुतः? विबुधार्चितबुद्धिबोधात्। विबुधैर्देवैरर्चितः पूजितः। बुद्धेर्बोधः प्रतिबोधो यस्य स तस्मात्। भो नाथ! त्वं शङ्करोऽसि। त्वमेव शङ्करदेवोऽसीत्यर्थः। कस्मात् भुवनत्रयाणां शं सुखं करोतीति भुवनत्रयशङ्करस्तस्य भावस्तस्मात्। हे धीर! त्वमेव धाताऽसि। कस्मात्, शिवस्य मोक्षस्य मार्गः पन्थास्तस्य विधिः आचारस्तस्य विधानात् करणात्वात्। भो भगवन्! व्यक्तम् स्पष्टम् यथा स्यात्तथा त्वमेव पुरुषोत्तमोऽसि। त्रिषष्टिपुरुषाणां मध्ये उत्तमः पुरुषोत्तम-तीर्थङ्करः साक्षान्मोक्षांगत्वात्।

भावार्थ—संसार में बुद्ध, शंकर, ब्रह्मा और नारायण नाम से प्रसिद्ध अन्य देव हैं। आचार्य कहते हैं कि हे भगवन्! केवलज्ञान सहित होने के कारण आप ही सच्चे बुद्ध हैं किन्तु जो सर्वथा क्षणिकवादी अथवा केवलज्ञान से रहित हैं वह बुद्ध, बुद्ध नहीं कहला सकता। तीनों लोकों के सुख या शान्ति के करने से आप ही सच्चे शंकर हैं। जो संसार का संहार करने वाला है और काम से पीड़ित होकर पार्वती को हमेशा साथ रखता है वह शंकर, शंकर नहीं हो सकता। आप ने ही रत्नत्रय रूप धर्म का उपदेश देकर मोक्षमार्ग की सृष्टि की है। इसलिए आप ही सच्चे ब्रह्मा हैं। जो हिंसक वेदों का उपदेश देता था और तिलोत्तमा के मोह में फँसकर तप से भ्रष्ट हुआ था वह ब्रह्मा, ब्रह्मा नहीं कहा जा सकता। इसीतरह पुरुषोत्तम कृष्ण नारायण भी तुम्हीं हो क्योंकि आप सब पुरुषों में उत्तम श्रेष्ठ हो।

आपको नमस्कार हो

तुभ्यं नमस् - त्रिभुवनार्ति - हराय नाथ!
तुभ्यं नमः क्षिति - तलामल - भूषणाय।

तुभ्यं नमस् - त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन! भवोदधि-शोषणाय॥२६॥

अन्वयार्थ—(नाथ!) हे स्वामिन्! **(त्रिभुवनार्तिहराय)** तीनों लोकों के दुःखों के हरने वाले **(तुभ्यम्)** आपके लिए **(नमः 'अस्तु')** नमस्कार हो, **(क्षिति-तलामलभूषणाय)** पृथ्वी तल के निर्मल आभूषण स्वरूप **(तुभ्यम्)** आपके लिए **(नमः 'अस्तु')** नमस्कार हो, **(त्रिजगतः)** तीनों जगत् के **(परमेश्वराय)** परमेश्वरस्वरूप **(तुभ्यम्)** आपके लिए **(नमः 'अस्तु')** नमस्कार हो और **(जिन!)** हे जिनेन्द्रदेव! **(भवोदधि-शोषणाय)** संसार समुद्र के सुखाने वाले **(तुभ्यम्)** आपके लिए **(नमः 'अस्तु')** नमस्कार हो।

टीका—भो नाथ! तुभ्यं भगवते नमः। कथंभूताय तुभ्यं? त्रिभुवनस्यार्ति दुःखं हरतीति त्रिभुवनार्तिहरस्तस्मै। भो देव! तुभ्यं नमः। कथं भूताय तुभ्यं? क्षितितलेऽमलभूषणं क्षितितलामल भूषणं तस्मै। भो जिन! तुभ्यं नमः। कथंभूताय तुभ्यं! त्रिजगतश्चाधोमध्योर्ध्वलोकस्य। परमश्चासौ ईश्वरः परमेश्वरस्तस्मै। भो जिन! तुभ्यं नमः। कथंभूताय तुभ्यं? भवलक्षणो य उदधिः समुद्रस्तं शोषयतीति भवोदधिशोषणस्तस्मै।

भावार्थ—हे भगवन्! आप तीनों लोकों की विपत्ति हरने वाले हो, महीतल के निर्मल आभूषण हो, त्रिभुवन के स्वामी हो और संसार समुद्र के शोषक हो इसलिए आपको नमस्कार हो।

दोष रहित गुणों के स्वामी

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणै-रशेषैस्,
त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्त - विविधा-श्रय-जातगर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि॥२७॥

अन्वयार्थ—(मुनीश!) हे मुनियों के स्वामी **(यदि नाम)** यदि **(निरवकाश-तया)** अन्य जगह स्थान न मिलने के कारण **(त्वम्)** आप **(अशेषैः)** समस्त **(गुणैः)** गुणों के द्वारा **(संश्रितः)** आश्रित हुए हो और

(उपात्तविविधाश्रय-जातगर्वैः) प्राप्त हुए अनेक आधार से उत्पन्न हुआ है अहंकार जिनको ऐसे **(दोषैः)** दोषों के द्वारा **(स्वप्नान्तरे अपि)** स्वप्न के मध्य में भी **(कदाचित् अपि)** कभी भी **(न ईक्षितः असि)** नहीं देखे गये हो **[तर्हि]** तो **(अत्र)** इस विषय में **(कः विस्मयः)** क्या आश्चर्य है? कुछ नहीं।

टीका—मुनीनां प्रत्यक्षज्ञानिनामीशः। तस्यामंत्रणे। भो मुनीश! अत्र जगन्मण्डले। को विस्मयः किमाश्चर्यम्। यदि चेत् नामेति सत्ये। अशेषैः समग्रैर्गुणैः। निरवकाशतया अनवकाशतया अवकाशरहिततत्वेन। त्वं भगवान् संश्रितः। अवकाशान्निष्क्रान्तो निरवकाशस्तस्य भावस्तत्ता तया। भो नाथ! दोषैरष्टादशदोषैः। स्वप्नान्तरेऽपि स्वप्नमध्येऽपि। त्वं कदाचिदपि नेक्षितोऽसि न दृष्टोऽसि। अत्रापि को विस्मयः? कथंभूतैर्दोषैः? उपात्ताः आदृताश्च ते विविधा अनेकाश्रयाश्च तैः कृत्वा जाता उत्पन्नो गर्वोऽभिमानो येषां ते तैः।

भावार्थ—गुणों को संसार में अन्य स्थान नहीं मिला इसलिए वे लाचार हो आपकी शरण में आ गये। परन्तु दोषों को अन्य स्थान की कमी नहीं थी, इसलिए वे स्वप्न में भी आपके पास नहीं आये। व्यवहार में भी देखा जाता है कि जिसकी अन्यत्र इज्जत नहीं होती वह लाचार हो किसी एक के पास ही रहता है, पर जिसकी हर जगह इज्जत होती है वह किसी एक के आश्रित नहीं रहता। श्लोक का तात्पर्य इतना ही है कि आप गुणवान हैं, आपमें दोष बिल्कुल ही नहीं हैं।

अशोक वृक्ष प्रातिहार्य

उच्चै - रशोक - तरु - संश्रितमुन्मयूख -
माभाति रूप-ममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्-किरण-मस्त-तमो-वितानम्,
बिम्बं रवेरिव पयोधर - पार्श्ववर्ति ॥२८॥

अन्वयार्थ—(उच्चैरशोकतरुसंश्रितम्) ऊँचे अशोक वृक्ष के नीचे स्थित तथा **(उन्मयूखम्)** जिसकी किरणें ऊपर को फैल रही हैं, ऐसा **(भवतः)** आपका **(अमलम् रूपम्)** उज्ज्वल रूप **(स्पष्टोल्लसत्किरणम्)**

स्पष्टरूप से शोभायमान हैं किरणें जिसकी और **(अस्त-तमो-वितानम्)** नष्ट कर दिया है अन्धकार का समूह जिसने ऐसे **(पयोधर-पार्श्ववर्ति)** मेघ के पास में स्थित **(रवेः बिम्बम् इव)** सूर्य के बिम्ब की तरह **(नितान्तम्)** अत्यन्त **(आभाति)** शोभित होता है।

टीका—भो नाथ! भगवतस्तव परमेश्वरस्य। अमलं रूपं जगन्मोहन-सौन्दर्यं। उच्चैरशोकतरुसंश्रितं प्रथमप्रातिहार्याशोकवृक्षाश्रितं। स तु नितान्तं निरन्तरमाभाति राजतीत्यर्थः। उच्चैश्चासावशोकतरुश्चोच्चैरशोकतरुस्तं संश्रितं रूपं! कथंभूतं रूपं उन्मयूखं उत ऊर्ध्वं निःसरन्तो मयूखाः किरणा यस्मात्तत्। कस्य किमिव रवेर्बिम्बमिव। यथा रवेः सूर्यस्य बिम्बं पयोधरपार्श्ववर्ति। कथं? रवेर्बिम्बं स्पष्टं प्रकटं यथा स्यात्तथा। उल्लसन्तः विस्फुरन्तः किरणा यस्य तत्। पुनः कथं? अस्तं निराकृतं तमसां पापानां वितानं समूहो येन तत्।

भावार्थ—हे प्रभो ! ऊँचे और हरे भरे अशोक वृक्ष के नीचे आपका सुवर्ण सा उज्ज्वल रूप उस भाँति भला मालूम होता है जिस भाँति काले काले मेघ के नीचे सूर्य का मण्डल। यह **'अशोक वृक्ष'** प्रातिहार्य का वर्णन है।

सिंहासन प्रातिहार्य

सिंहासने मणि - मयूख - शिखा - विचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद् - विलस - दंशुलता - वितानं।
तुङ्गोदयाद्रि - शिरसीव सहस्र-रश्मेः ॥२९॥

अन्वयार्थ—(मणि-मयूख-शिखा-विचित्रे) रत्नों की किरणों के अग्रभाग से चित्र विचित्र **(सिंहासने)** सिंहासन पर **(तव)** आपका **(कनकावदातम्)** सुवर्ण की तरह उज्ज्वल **(वपुः)** शरीर **(तुङ्गोदयाद्रि-शिरसि)** ऊँचे उदयाचल के शिखर पर **(वियद्-विलसदंशुलता-वितानम्)** आकाश में शोभायमान है किरणरूपी लताओं का समूह है जिसका ऐसे **(सहस्ररश्मेः)** सूर्य के **(बिम्बम् इव)** मण्डल की तरह **(विभ्राजते)** शोभायमान हो रहा है।

टीका—भो नाथ! मणिमयूखशिखाविचित्रे नानारत्नकिरण-प्रभाभासुरे। सिंहासनेऽनर्घ्यविष्टरे। कनकावदातं प्रतप्तकाञ्चन-सन्निभं। तव परमेश्वरस्य सप्तधातुविवर्जितं परमौदारिकं वपुर्देहो विभ्राजते। अतिशयेन विराजत इत्यर्थः। मणीनां मयूखाः किरणास्तेषां शिखाः कान्ति-कलापास्ताभिर्विचित्रं तस्मिन्। किमिव सहस्ररश्मेः सूर्यस्य बिम्बं मण्डलं। तुङ्गोदयाद्रिशिरसि उच्चैस्तरोदयशिखरे। विराजते शोभते। तुङ्गश्चासावुदयाद्रिश्च तुङ्गोदयाद्रिस्तस्य शिखरं तस्मिन्। कथंभूतं बिम्बम्? वियद्विलसदंशुलतावितानं वियति गगने विलसच्छोभमान-मंशुलतानां वितानां यस्मिन् तत्।

भावार्थ—हे प्रभो ! उदयाचल की चोटी पर सूर्य का बिम्ब जैसा भला मालूम होता है वैसा ही रत्नों के सिंहासन पर आपका मनोहर शरीर भला मालूम होता है। यह '**सिंहासन**' प्रातिहार्य का वर्णन है।

चँवर प्रातिहार्य

कुन्दावदात -चल -चामर - चारु - शोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौत - कान्तम्।
उद्यच्छशाङ्क - शुचिनिर्झर - वारि - धार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

अन्वयार्थ—**(कुन्दावदात-चलचामर-चारुशोभम्)** कुन्द के फूल के समान स्वच्छ हिलते हुए चँवरों की सुन्दर शोभा से युक्त **(कलधौत-कान्तम्)** सुवर्ण के समान कान्ति वाला **(तव)** आपका **(वपुः)** शरीर **(उद्यच्छशाङ्क-शुचिनिर्झर-वारिधारम्)** उदीयमान चन्द्रमा के समान निर्मल झरनों की जलधारा से युक्त **(सुरगिरेः)** सुमेरु पर्वत के **(शात-कौम्भम्)** स्वर्णमयी **(उच्चैस्तटम् इव)** ऊँचे तट के समान **(विभ्राजते)** शोभायमान होता है।

टीका—भो भगवन्! तव वपुः कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं सत् विभ्राजते चकास्तीत्यर्थः। कुन्दवदवदातानि उज्ज्वलानि चलानि वीज्यमानानि च तानि चामराणि च कुन्दावदातचलचामराणि तैः चार्वी मनोज्ञा शोभा

यस्य तत्। कथंभूतं वपु:? कलधौतवत्कान्तं मनोज्ञं कलधौतकान्तं। किमिव सुरगिरेः शातकौम्भं। उच्चैस्तटमिव यथा सुरगिरेर्मेरोः शातकौम्भं। सुवर्णमयं उच्चैस्तटं। विभ्राजते। शातकुम्भस्येदं शातकौम्भं कथंभूतमुच्चैस्तटं? उद्यतश्चासौ शशाङ्कश्चचोद्यच्छशांक-स्तद्वच्छुचीन्युज्ज्वलानि च निर्झराणां वारीणि च उद्यच्छशाङ्कशुचि-निर्झरवारीणि तेषां धारा यस्मिन् तत्।

भावार्थ—हे प्रभो! जिस पर देवों के द्वारा सफेद चँवर ढोले जा रहे हैं ऐसा आपका सुवर्णमय शरीर उतना सुहावना मालूम होता है जितना कि झरने के सफेद जल से शोभित मेरुपर्वत का सोने का शिखर। यह **'चँवर'** प्रातिहार्य का वर्णन है।

छत्रत्रय प्रातिहार्य

छत्र - त्रयं तव विभाति शशाङ्क - कान्त-
मुच्चैः स्थितं स्थगित-भानुकर-प्रतापम्।
मुक्ता-फल -प्रकर -जाल - विवृद्ध-शोभं,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्॥३१॥

अन्वयार्थ—**(शशाङ्ककान्तम्)** चन्द्रमा के समान सुन्दर **(स्थगित-भानु-कर-प्रतापम्)** रोक दिया है सूर्य की किरणों के सन्ताप को जिसने तथा **(मुक्ता-फल-प्रकर-जाल-विवृद्ध-शोभम्)** मोतियों के समूह वाली झालर से बढ़ रही है शोभा जिनकी ऐसे **(तव उच्चैः स्थितम्)** आपके ऊपर स्थित **(छत्र-त्रयम्)** तीन छत्र **(त्रिजगतः)** तीन जगत् के **(परमेश्वरत्वम्)** स्वामित्व को **(प्रख्यापयत् 'इव')** प्रकट करते हुए की तरह **(विभाति)** शोभायमान होते हैं।

टीका—भो भगवन्! तव भगवतः। छत्रत्रयं शशाङ्कवदुज्ज्वलं शशाङ्ककान्तं। पुनः कथं? स्थगित उत्तम्भितो भानुकराणां सूर्यकिरणानां प्रतापो येन तत्। पुनः कथं? मुक्ताफलानां प्रकराः गुच्छाः मुक्ताफल-प्रकरास्तेषां जालानि पुञ्जास्तैर्विशेषेण वृद्धा वर्धमाना शोभा यस्य तत्। पुनः कथं? त्रिजगतः परमेश्वरस्य परमैश्वर्यं प्रख्यापयत् प्रवदत् (प्रकर्षेण) ख्यापयति कथयतीति प्रख्यापयत्। परमेश्वरस्य भावः परमेश्वरत्वं।

भावार्थ—भगवान् आपके शिर पर जो तीन छत्र फिर रहे हैं वे मानों यह प्रकट कर रहें हैं कि आप तीन लोक के स्वामी हैं। यह **'छत्रत्रय'** प्रातिहार्य का वर्णन है।

देव-दुन्दुभि प्रातिहार्य

गम्भीर - तार - रव - पूरित - दिग्विभागस्-
त्रैलोक्यलोक-शुभ - सङ्गम - भूति - दक्षः।
सद्धर्म- राज-जय - घोषण- घोषकः सन्,
खे दुंदुभि-र्ध्वनति ते यशसः प्रवादी॥३२॥

अन्वयार्थ—(गम्भीर-तार-रव-पूरित दिग्विभागः) गम्भीर और उच्च शब्द से पूर दिया है दिशाओं के विभाग को जिसने, ऐसा **(त्रैलोक्य-लोक-शुभ-सङ्गम-भूतिदक्षः)** तीनों लोकों के जीवों को शुभ समागम की सम्पत्ति देने में समर्थ और **(सद्धर्म-राज-जय घोषण-घोषकः)** समीचीन जैनधर्म के स्वामी की जयघोषणा को घोषित करने वाला **(दुन्दुभिः)** दुन्दुभि बाजा **(ते)** आपके **(यशसः)** यश का **(प्रवादी सन्)** कथन करता हुआ **(खे)** आकाश में **(ध्वनति)** शब्द करता है।

टीका—खे आकाशे! ते तव तीर्थङ्करस्य। दुन्दुभिः पटहः। ध्वनति शब्दायते। कथंभूतं दुन्दुभिः? गम्भीरोऽगाधस्तार उच्चैस्तरो यो रवः शब्दस्तेन पूरिता दिग्विभाग येन सः। पुनः कथंभूतं? त्रैलोक्यस्य लोका इन्द्रधरणेन्द्र-चक्रवर्त्यादयस्तेषां शुभस्य सङ्गमः प्राप्तिस्तस्यभूतिर्भवनं तत्र दक्षो निपुण इत्यर्थः। पुनः कथं? सत्समीचीनो यो धर्मराजस्तस्य जयघोषणं जयपटहं घोषयति कथयतीति सद्धर्मराजजय-घोषणघोषकः। अथवा सन् विद्यमानो धर्मराजो यमस्तस्य जयस्तस्य घोषणं घोषयतीति, पुनः कथं? सन् उत्तमः। पुनः कथंभूतं? यशसः प्रवादी। प्रकर्षेण वदत्येवं शीलः प्रवादी।

भावार्थ—हे प्रभो! आकाशों में जो दुन्दुभि बाजा बज रहा है वह मानों आपकी जय बोलता हुआ आपका सुयश प्रकट कर रहा है। यह **'देव दुन्दुभि'** प्रातिहार्य का वर्णन है।

पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य

मन्दार - सुन्दर - नमेरु - सुपारिजात-
सन्तानकादि - कुसुमोत्कर - वृष्टि - रुद्धा।
गन्धोद - बिन्दु - शुभ-मन्द - मरुत्प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा॥३३॥

अन्वयार्थ—(गन्धोदबिन्दु-शुभमन्दमरुत्प्रपाता) सुगन्धित जल की बूँदों और सुखकर मन्द हवा के साथ गिरने वाली **(उद्धा)** श्रेष्ठ और **(दिव्या)** मनोहर **(मन्दार-सुन्दर-नमेरु-सुपारिजात-सन्तानकादि-कुसुमोत्कर-वृष्टिः)** मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात, सन्तानक आदि कल्पवृक्षों के फूलों के समूहों की वर्षा **(ते)** आपके **(वचसाम्)** वचनों की **(ततिः वा)** पंक्ति की तरह **(दिवः)** आकाश से **(पतति)** पड़ती है/ गिरती है।

टीका—भो भगवन्! ते तव। उद्धा प्रत्यग्रा। मन्दारसुन्दरनमेरु-सुपारिजातसन्तानकादिकुसमोत्करवृष्टिः। दिवो गगनात्पतति। मंदाराणि च सुन्दरनमेरूणि च सुपारिजातानि च सन्तानकानि च मन्दारसुन्दरनमेरु-सुपारिजातसन्तानकानि तान्येवादिर्येषां तान्येवं विधानि च तानि कुसुमानि च तेषामुत्करः समूहस्तस्य वृष्टिर्वर्षणं मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात-सन्तानकादि-कुसुमोत्करवृष्टिः। गन्धमिश्रिता य उदबिन्दवो जलकणाः शुभाः शीतला मन्दाः सुरभयो ये मरुतो वायवस्तेषां प्रपातो यस्यां सा। पुनः कथंभूता? दिवि भवा दिव्या। वा इवार्थे। उत्प्रेक्षते तव वचसां ततिरिव वचनश्रेणिरिव।

भावार्थ—हे नाथ! सुगन्धित जल और मन्द हवा के साथ आकाश से जो कल्पवृक्ष के फूलों की वर्षा होती है वह आपके मनोहर वचनावली की तरह शोभित होती है। यह '**पुष्पवृष्टि**' प्रातिहार्य का वर्णन है।

भामण्डल प्रातिहार्य

शुम्भत्-प्रभा - वलय-भूरि-विभा-विभोस्ते,
लोकत्रये द्युतिमतां द्युति - माक्षिपन्ती।

प्रोद्यद् - दिवाकर - निरन्तर - भूरि - संख्या,
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोम-सौम्याम्॥३४॥

अन्वयार्थ—(लोकत्रये) तीनों लोकों में **(द्युतिमताम्)** कान्तिमान् पदार्थों की **(द्युतिम्)** कान्ति को **(आक्षिपन्ती)** तिरस्कृत करने वाली **(प्रोद्यद्-दिवाकर-निरन्तर-भूरिसंख्या)** उदित होते हुए सूर्यों की निरन्तर भारी संख्या वाली **(दीप्त्या अपि)** कान्ति से भी और **(सोमसौम्याम्)** चन्द्रमा के समान सुन्दर **(ते विभोः!)** हे प्रभो! आपके **(शुम्भत्-प्रभावलय-भूरिविभा)** देदीप्यमान भामण्डल की विशाल कान्ति **(निशाम् अपि)** रात्रि को भी **(जयति)** जीत रही है।

टीका—भो स्वामिन्! ते तव। विभोः परब्रह्मणः। शुम्भत्प्रभावलय-भूरिविभा। भामण्डलप्रभा लोकत्रयद्युतिमतां सूर्यचन्द्रग्रहनक्षत्र-प्रकीर्णतारकादीनां द्युतिं दीप्तिमाक्षिपन्ती तिरस्कुर्वन्ती। सती दीप्त्याकृत्वा। निशामपि रात्रिमपि जयन्त्यपि। शुम्भच्छोमानंयत्प्रभावलयं भामण्डलं तस्य भूरिश्चासौ विभा च शुम्भत्प्रभा-वलयभूरिविभा। लोकत्रये द्युतिमन्तस्तेषाम्। कथंभूता भामण्डलप्रभा? प्रोद्यन्तः उदयन्तो दिवाकराः सूर्यास्तेषां निरान्तरा आन्तर्यरहिता भूरयः प्रचुराः संख्या गणना यस्याः सा। पुनः कथंभूता? सोमश्चन्द्रस्तद्वत्सौम्या मनोज्ञा।

भावार्थ—हे प्रभो! यद्यपि आपकी प्रभा सूर्य से भी अधिक तेजस्विनी है तथापि वह सन्ताप देने वाली नहीं है। चन्द्र प्रभा की तरह शीतल भी है। यह '**भामण्डल**' प्रातिहार्य का वर्णन है।

दिव्यध्वनि प्रातिहार्य

स्वर्गापवर्ग - गम - मार्ग - विमार्गणेष्टः,
सद्धर्म-तत्त्व - कथनैक-पटुस् - त्रिलोक्याः।
दिव्य - ध्वनि-र्भवति ते विशदार्थ - सर्व-
भाषा-स्वभाव-परिणाम-गुणैः प्रयोज्यः॥३५॥

अन्वयार्थ—(ते) आपकी **(दिव्यध्वनिः)** दिव्यध्वनि **(स्वर्गापवर्ग-गममार्ग-विमार्गणेष्टः)** स्वर्ग और मोक्ष को जाने वाले मार्ग के खोजने

के लिए इष्ट **(त्रिलोक्या:)** तीनों लोकों के जीवों को **(सद्धर्म-तत्त्व-कथनैक-पटु:)** समीचीन धर्मतत्त्व के कथन करने में अत्यन्त समर्थ और **(विशदार्थ-सर्वभाषा-स्वभावपरिणाम-गुणै: प्रयोज्य:)** स्पष्ट अर्थ वाली सम्पूर्ण भाषाओं में परिवर्तित होने वाले स्वाभाविक गुण से सहित **(भवति)** होती है।

टीका—भो विभो! ते तव भगवतो दिव्यध्वनिर्भवति। कथंभूतो दिव्यध्वनि:? स्वर्ग: सुरलोकोऽपवर्गो मोक्षस्तयोर्गममार्ग: गमनपथस्तस्य विमार्गणं प्रापणं तत्रेष्ट समर्थ:। पुन: कथंभूत:? त्रिलोक्या: तत्समीचीनं यद्धर्म तत्त्वं तस्य कथनं तत्रैकपटुरद्वितीयो वाचाल:। पुन: कथं? विशदाश्च ते अर्थाश्च विशदार्थास्तै:। सर्वेषां प्राणिनां भाषाणां स्वभाव-परिणामगुणं प्रकर्षेण युनक्तीति विशदार्थसर्वभाषास्वभावपरिणाम-गुणप्रयोज्य:। सर्वे प्राणिन: स्वस्वभाषया निसृतं तव दिव्यध्वनिं कलयन्तीति तात्पर्यार्थ:।

भावार्थ—हे स्वामिन्! आपकी वाणी स्वर्ग और मोक्ष का रास्ता बताने वाली है, सब जीवों को हित का उपदेश देने में समर्थ है और सब भाषाओं में बदल जाती है अर्थात् जो जिस भाषा का जानकार है आपकी दिव्यध्वनि उसके कानों के पास पहुँचकर उसी रूप हो जाती है। यह '**दिव्यध्वनि**' प्रातिहार्य का वर्णन है।

विहार में स्वर्ण कमलों की रचना

उन्निद्र - हेम -नव - पङ्कज-पुञ्ज - कान्ति-,
पर्युल् -लसन् - नख -मयूख-शिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्त:,
पद्मानि तत्र विबुधा: परिकल्पयन्ति॥३६॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र!) हे जिनेन्द्रदेव! **(उन्निद्र-हेम-नव-पङ्कज-पुञ्ज-कान्ति-पर्युल्लसन्-नखमयूख-शिखाभिरामौ)** खिले हुए सुवर्ण के नवीन कमल समूह के समान कान्ति के द्वारा सब ओर से शोभायमान नखों की किरणों के अग्रभाग से सुन्दर **(तव)** आपके **(पादौ)** दोनों चरण **(यत्र)** जहाँ **(पदानि)** कदम **(धत्त:)** रखते हैं **(तत्र)** वहाँ **(विबुधा:)** देव

गण **(पद्मानि)** कमलों को **(परिकल्पयन्ति)** रच देते हैं।

टीका—भो जिनेन्द्र! यत्र स्थाने। तव भगवतः। पादौ पदानि। धत्तः धरतः। तत्र स्थाने। विबुधाः देवाः। पद्मानि कमलानि। परिकल्पयन्ति रचयन्तीत्यर्थः। कथंभूतौ पादौ? उन्निद्राणि विकसितानि यानि हेम्नः सुवर्णस्य नवपङ्कजानि कमलानि तेषां पुञ्जः समूहस्तस्य कान्तिस्तया कृत्वा परिसमन्ततः उल्लसन्तोः ये नखास्तेषां किरणास्तेषां शिखाग्र-भागस्ताभिरभिरामौ मनोज्ञावित्यर्थः।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र! जब आप धर्मोपदेश देने के लिए आर्य क्षेत्रों में बिहार करते हैं तब देव लोग आपके चरणों के नीचे कमलों की रचना करते जाते हैं।

आप जैसी विभूति अन्यों में नहीं

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज् - जिनेन्द्र !
धर्मोपदेशन - विधौ न तथा परस्य।
यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक् कुतो ग्रह-गणस्य विकासिनोऽपि॥३७॥

अन्वयार्थ—**(जिनेन्द्र!)** हे जिनदेव! **(इत्थं)** इस प्रकार **(धर्मोपदेशन-विधौ)** धर्मोपदेश के कार्य में **(यथा)** जैसी **(तव)** आपकी **(विभूतिः)** विभूति **(अभूत्)** हुई **(तथा)** वैसी **(परस्य)** किसी दूसरे की **(न 'अभूत्')** नहीं हुई **(प्रहतान्धकारा)** अन्धकार को नष्ट करने वाली **(यादृक्)** जैसी **(प्रभा)** कान्ति **(दिनकृतः)** सूर्य की **('भवति')** होती है **(तादृक्)** वैसी **(विकाशिनः अपि)** प्रकाशमान भी **(ग्रहगणस्य)** अन्य ग्रहों की **(कुतः)** कहाँ से हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती।

टीका—भो जिनेन्द्र! इत्थं पूवोक्तप्रकारेण। यथा धर्मोपदेशनविधौ। तव तीर्थङ्करस्य। विभूतिरभूत् बभूव। तथा परस्य हरिहरादिषु विभूतिर्नाभूत्। धर्मस्योपदेशनं धर्मोपदेशनं तस्य विधिस्तस्मिन्। एतद्युक्तमेव दिनकृतः सूर्यस्य प्रभा दीप्तिर्यादृगभूत्। विकाशिनोऽपि प्रकटीभूतस्यापि ग्रहगणस्य तादृक् प्रभा कुत एव। कथंभूता सूर्यप्रभा? प्रहतानि निराकृतानि अन्धकाराणि यस्यां

सा।

भावार्थ—हे प्रभो! धर्मोपदेश के विषय में समवसरणादि रूप जैसी विभूति आपको प्राप्त हुई थी वैसी विभूति अन्य देवाताओं को प्राप्त नहीं हुई थी। सो ठीक ही है, क्या कभी सूर्य जैसी कान्ति शुक्र आदि ग्रहों से भी प्राप्त हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती है।

हस्तिभय निवारक भक्ति

श्च्योतन् - मदाविल - विलोल -कपोल-मूल-
मत्त- भ्रमद् - भ्रमर - नाद -विवृद्ध-कोपम्।
ऐरावताभमिभ - मुद्धत - मापतन्तं
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम्॥३८॥

अन्वयार्थ—(भवदाश्रितानाम्) आपके आश्रित मनुष्यों को **(श्च्योतन्-मदाविल-विलोल-कपोलमूल-मत्तभ्रमद्भ्रमर-नाद-विवृद्ध-कोपम्)** झरते हुए मद जल से मलिन और चञ्चल गालों के मूल भाग में पागल हो घूमते हुए भौंरों के शब्द से बढ़ गया है क्रोध जिसका ऐसे **(ऐरावताभम्)** ऐरावत की तरह **(उद्धतम्)** उद्दण्ड **(आपतन्तम्)** सामने आते हुए **(इभम्)** हाथी को **(दृष्ट्वा)** देखकर **(भयम्)** डर **(नो भवति)** नहीं होता।

टीका—भो नाथ! भवदाश्रितानां पुंसां। ऐरावताभं पराक्रमेण ऐरावततुल्यं। उत्कटं उद्धतमापतन्तं सन्मुखमागच्छन्तमिभं हस्तिनं। दृष्टवा विलोक्य। भयं नो भवति। भवन्तमाश्रिता भवदाश्रितस्तेषां। कथंभूतमिमं? श्च्योतन्तः क्षरन्तो ये मदास्तैराविलो कलुषीभूतौ विलालौ यो कपालौ तयोर्मूले मत्ता भ्रमन्तश्च ये भ्रमरास्तेषां नाद शब्दस्तेन विवृद्धः कोपो यस्य स तम्।

भावार्थ—हे प्रभो जो मनुष्य आपकी शरण लेते हैं उन्हें मदोन्मत्त हाथी भी नहीं डरा सकता।

सिंहभय मुक्त जिनेन्द्र भक्त

भिन्नेभ -कुम्भ -गल -दुज्ज्वल-शोणिताक्त-
मुक्ता - फल-प्रकर-भूषित - भूमि - भागः।

बद्ध - क्रमः क्रम - गतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रम-युगाचल-संश्रितं ते॥३९॥

अन्वयार्थ—(भिन्नेभ-कुम्भ-गल-दुज्ज्वल-शोणिताक्त-मुक्ता-फल-प्रकर-भूषित-भूमिभागः) विदारे हुए हाथी के गण्डस्थल से गिरते हुए उज्ज्वल तथा खून से भीगे हुए मोतियों के समूह के द्वारा भूषित किया है पृथ्वी का भाग जिसने ऐसा तथा **(बद्धक्रमः)** छलांग मारने के लिए तैयार **(हरिणाधिपः अपि)** सिंह भी **(क्रमगतम्)** अपने पाँवों के बीच आये हुए **(ते)** आपके **(क्रम-युगाचल-संश्रितम्)** चरण युगलरूप पर्वत का आश्रय लेने वाले पुरुष पर **(न आक्रामति)** आक्रमण नहीं करता।

टीका—भो भगवन्! हरिणाधिपोऽपि तव विभो क्रमयुगाचलसंश्रितं प्राणिनं नाक्रामति न पीडयति। क्रमयोर्युगं क्रमयुगं क्रमयुगमेवाचलः पर्वतस्तं संश्रितस्तं। हरिणानामधिपः। कथम्भूतः हरिणाधिपः? भिन्ना विदारिता ये इभाः हस्तिनस्तेषां कुम्भाः कुम्भस्थलानि तेभ्यो गलन्ति उज्ज्वलानि शोणितेन रुधिरेण आक्तानि लिप्तानि यानि मुक्ताफलानि तेषां प्रकरः समूहस्तेन भूषितोऽलङ्कारितो भूमेर्भागः प्रदेशो येन सः। पुनः कथंभूतः! बद्धः क्रमः फाल इति येन स। कथंभूतं प्राणिनं? क्रमं फालं गतः प्राप्तस्तं। सिंहस्य फालः क्रमः इति कथ्यते।

भावार्थ–हे प्रभो! जो आपके चरणों की शरण लेता है सिंह भी उनका शिकार नहीं कर पाता।

नाम स्मरण से दावाग्नि शमन

कल्पान्त - काल-पवनोद्धत - वह्नि - कल्पं,
दावानलं ज्वलित-मुज्ज्वल-मुत्स्फुलिङ्गम्।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुख - मापतन्तं,
त्वन्नाम-कीर्तन-जलं शमयत्यशेषम्॥४०॥

अन्वयार्थ—(त्वन्नामकीर्तनजलम्) आपके नाम का यशोगानरूपी जल **(कल्पान्तकाल-पवनोद्धत-वह्नि-कल्पम्)** प्रलयकाल की वायु से प्रचण्ड अग्नि के तुल्य **(ज्वलितम्)** प्रज्वलित **(उज्ज्वलम्)** उज्ज्वल और

(उत्स्फुलिङ्गम्) जिससे तिलंगे ऊपर की ओर निकल रहे हैं, ऐसी तथा **(विश्वं जिघत्सुम् इव)** संसार को भक्षण करने की इच्छा रखने वाले की तरह **(सम्मुखम्)** सामने **(आपतन्तम्)** आती हुई **(दावानलम्)** वन की अग्नि को **(अशेषम्)** सम्पूर्ण रूप से **(शमयति)** बुझा देता है।

टीका—भो भगवन्! त्वन्नामकीर्तनजलं भवन्नामस्मरणपानीयं। अशेषं समग्रं दावानलं विश्वं त्रैलोक्यं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तमभिमुख-मागच्छन्तं शमयति। तव नाम त्वन्नाम्नः कीर्तनं तदेव जलं त्वन्नामकीर्तनजलं। अत्तुमिच्छति जिघत्सति, जिघत्सतीति जिघत्सुस्तं। कथंभूतं दावानलं? कल्पान्तकालपवनेन प्रलय-कालवायुनोद्धताः ये वह्नयस्तेभ्यः ईषन्न्यूनः कल्पान्तकालपवनोद्धत-वह्निकल्पस्तं। पुनः ज्वालाः संजाता उत्पन्ना यस्यासौ ज्वलितस्तं। ज्वालादेर्ह्रस्वः। पुनः कथं? उज्ज्वलं उत् ऊर्ध्वं ज्वलतीति उज्ज्वलस्तं। अथवा उज्ज्वलन्तेजोभिराक्रान्तं। पुनः कथं? उत्स्फुलिङ्गम् उत इत्युच्छलन्तः स्फुलिङ्गाः वह्निकणाः यस्मात्स तम्।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके नाम का स्मरण करने से भयंकर दावानल की बाधा नष्ट हो जाती है।

भुजंग भयहारी नाम नागदमनी

रक्तेक्षणं समद - कोकिल - कण्ठ - नीलं,
क्रोधोद्धतं फणिन - मुत्फण - मापतन्तम्।
आक्रामति क्रम - युगेण निरस्त-शङ्कस्,
त्वन्नाम -नाग - दमनी हृदि यस्य पुंसः॥४१॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस **(पुंसः)** पुरुष के **(हृदि)** हृदय में **(त्वन्नाम-नागदमनी)** आपके नामरूपी नागदमनी-नागवशीकरण औषध **[अस्ति]** मौजूद है **[सः]** वह पुरुष **(रक्तेक्षणम्)** लाल-लाल आँखों वाले **(समद-कोकिल-कण्ठनीलम्)** मद युक्त कोयल के कण्ठ की तरह काले **(क्रोधोद्धतम्)** क्रोध से उद्दण्ड और **(उत्फणम्)** ऊपर को फण उठाये हुए **(आपतन्तम्)** सामने आते हुए **(फणिनम्)** साँप को **(निरस्तशङ्कः 'सन्')** शंका रहित होता हुआ **(क्रमयुगेण)** दोनों पाँवों से **(आक्रामति)**

लाँघ जाता है।

टीका—भो भगवन्! यस्य पुंसः हृदि अन्तःकरणे त्वन्नामनागदमनी भवन्नामलक्षणसर्पवशीकरणौषधिरस्ति वरिवर्ति। स पुमान् निरस्तशंकः सन्। आपतन्तमभिमुखमागच्छन्तं फणिनं सर्प क्रमयुगेन पादाभ्यामा-क्रामत्युल्लंघयति। कथंभूतं फणिनं? उत् ऊर्ध्वं फणा यस्य स तं। पुनः कथंभूतं? रक्ते आताम्रे ईक्षणे नेत्रे यस्य स तं। पुनः कथं? मदेन सह वर्तमानो यो हि कोकिलस्तस्य कण्ठस्तद्वन्नीलः श्यामलस्तं। पुनः कथं? क्रोधेनोद्धतो दृप्तस्तं। तव नाम त्वन्नाम तदेव नागदमनी त्वन्नामनागदमनी।

भावार्थ—हे प्रभो! जो आपके नाम का स्मरण करता है, भयंकर सांप भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

संग्रामभय विनाशक जिनकीर्तन

वल्गत् - तुरङ्ग - गज - गर्जित - भीमनाद-
माजौ बलं बलवता - मपि भूपतीनाम्।
उद्यद् - दिवाकर - मयूख - शिखापविद्धं,
त्वत्कीर्तनात्तम - इवाशु भिदामुपैति॥४२॥

अन्वयार्थ—(त्वत्कीर्तनात्) आपके यशोगान से **(आजौ)** युद्धक्षेत्र में **(वल्गत्तुरङ्ग-गजगर्जित-भीमनादम्)** उछलते हुए घोड़े और हाथियों की गर्जना से भयङ्कर है शब्द जिसमें ऐसी **(बलवताम्)** पराक्रमी **(भूपतीनाम् अपि)** राजाओं की भी **(बलम्)** सेना **(उद्यद्-दिवाकर-मयूख-शिखा-पविद्धम्)** उगते हुए सूर्य की किरणों के अग्रभाग से वेधे गये **(तमः इव)** अन्धकार की तरह **(आशु)** शीघ्र ही **(भिदाम्)** विनाश को **(उपैति)** प्राप्त हो जाती है।

टीका—भो देव! आजौ संग्रामे बलवतामपि भूपतीनां राज्ञां बलं सैन्यं त्वत्कीर्तनात् भवन्नामस्मरणात् उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं तम इव आशु शीघ्रं भिदामुपैति भेदं प्राप्नोतीत्यर्थः। उद्यन्नुदयप्राप्तो दिवाकरः सूर्यस्तस्य मयूखास्तेषां शिखास्ताभिरपविद्धं भिदां प्राप्तं। कथंभूतं बलं? वल्गन्तो ये तुरंगा अश्वास्तथा गजानां गर्जितानि तैर्भीमा भयङ्करा नादाः शब्दा यस्मिन्

तत्। तव कीर्तनं तस्मात्। बलं पराक्रमो विद्यते येषां ते बलवन्तस्तेषाम्।

भावार्थ—हे नाथ! जिस तरह सूर्य की किरणों से अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी तरह आपका यशोगान करने से बड़े बड़े राजाओं की सेनाएँ भी युद्ध में नष्ट हो जाती हैं, हार जाती हैं।

शरणागत की युद्ध में विजय

कुन्ताग्र - भिन्न -गज - शोणित - वारिवाह-
वेगावतार - तरणातुर - योध - भीमे।
युद्धे जयं विजित - दुर्जय - जेय - पक्षास्,
त्वत्पाद-पङ्कज-वनाश्रयिणो लभन्ते॥४३॥

अन्वयार्थ—(त्वत्पाद-पङ्कज-वनाश्रयिण:) आपके चरणरूप कमलों के वन का आश्रय लेने वाले पुरुष **(कुन्ताग्र-भिन्न-गज-शोणित-वारिवाह-वेगावतार-तरणातुर-योध-भीमे)** भालों के अग्रभाग से विदारे गये हाथियों के खूनरूपी जल के प्रवाह को वेग से उतरने और तैरने में व्यग्र योद्धाओं के द्वारा भयंकर **(युद्धे)** युद्ध में **(विजित-दुर्जय-जेय-पक्षा:)** जीत लिया है कठिनाई से जीतने योग्य शत्रुओं के पक्ष को जिन्होंने ऐसे होते हुए **(जयम्)** विजय **(लभन्ते)** पाते हैं।

टीका—भो भगवन्! त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिण: प्राणिनो युद्धे रणे जयं लभन्ते विजयं प्राप्नुवंति। तव पादौ त्वत्पादौ तावेव पङ्कजे कमले तयोर्वनमाश्रयन्ति ते त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिण:। कथंभूतास्ते? विजिता दुर्जया जेयपक्षा: शात्रवा यैस्ते। कथंभूते युद्धे? कुन्तानां भल्लानामग्राणि तैर्भिन्ना विदारिता ये गजास्तेषां शोणितानि रुधिराणि तान्येव वारीणि जलानि तेषां वाहा: प्रवाहास्तेषु वेगानां रयाणां अवतारस्तत्र तरणातुरा व्याकुला ये योधा: सुभटास्तैर्भीमं भयङ्करं तस्मिन्।

भावार्थ—हे भगवन्! जो आपके चरणों का सहारा लेते हैं वे भयंकर से भयंकर भी युद्ध में निश्चित विजय पाते हैं।

नाम स्मरण से निर्विघ्न समुद्र यात्रा

अम्भोनिधौ क्षुभित - भीषण - नक्र - चक्र-
पाठीन-पीठ - भय - दोल्वण - वाडवाग्नौ।
रङ्गत्तरङ्ग - शिखर - स्थित - यान - पात्रास्,
त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ॥४४॥

अन्वयार्थ—(क्षुभितभीषणनक्रचक्र पाठीनपीठभय-दोल्वण-वाड-वाग्नौ) क्षोभ को प्राप्त हुए भयंकर मगरमच्छों के समूह और मछलियों के द्वारा भय पैदा करने वाले तथा विकराल है बड़वानल जिसमें ऐसे **(अम्भोनिधौ)** समुद्र में **(रङ्गत्तरङ्ग-शिखरस्थित-यानपात्राः)** चञ्चल लहरों के अग्रभाग पर स्थित है जहाज जिनका ऐसे मनुष्य **(भवतः)** आपके **(स्मरणात्)** स्मरण से **(त्रासम्)** भय को **(विहाय)** छोड़कर **(व्रजन्ति)** गमन/यात्रा करते हैं।

टीका—भो भगवन्! रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्राः प्राणिनः अम्भोनिधौ समुद्रे। भवतस्तव। स्मरणात् स्मरणमात्रात्। त्रासं भयं। विहाय मुक्त्वा। व्रजंति इष्टस्थानं यान्तीत्यर्थः रङ्गन्तः उच्छलन्तः ये तरङ्गा कल्लोलास्तेषां शिखरेऽग्रभागे स्थितानि यानि पात्राणि प्रवहणानि येषां ते। कथंभूतेऽम्भोनिधौ क्षुभिताः क्षोभं प्राप्ता भीषणा भयङ्करा ये नक्रा दुष्टजलचरजीवास्तेषां चक्राणि यस्मिन् स तस्मिन् पाठीनपीठो मत्स्यभेदस्तेन भयदो महाभयप्रदायी उल्वणो वाडवाग्निर्यस्मिन् स तस्मिन्।

भावार्थ—हे भगवन्! जो आपका स्मरण करते हैं वे तूफान के समय भी समुद्र में निडर होकर यात्रा करते हैं।

व्याधि विनाशक चरणरज

उद्भूत - भीषण-जलोदर - भार - भुग्नाः,
शोच्यां दशा-मुपगताश्-च्युत-जीविताशाः।
त्वत्पाद - पङ्कज - रजोऽमृत - दिग्ध-देहा,
मर्त्या भवन्ति मकर-ध्वज-तुल्यरूपाः॥४५॥

अन्वयार्थ—(उद्भूत-भीषण-जलोदर-भारभुग्नाः) उत्पन्न हुए

भयंकर जलोदर रोग के भार से झुके हुए **(शोच्यां दशाम्)** शोचनीय अवस्था को **(उपगताः)** प्राप्त और **(च्युतजीविताशाः)** छोड़ दी है जीवन की आशा जिन्होंने ऐसे **(मर्त्याः)** मनुष्य **(त्वत्पाद-पङ्कज-रजोऽमृत-दिग्धदेहाः)** आपके चरण कमलों की धूलिरूप अमृत से लिप्त शरीर होते हुए **(मकरध्वजतुल्यरूपाः)** कामदेव के समान रूप वाले **(भवन्ति)** हो जाते हैं।

टीका—भो देव! उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना मर्त्या मनुष्यास्त्वत्पाद -पङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहाः सन्तो मकरध्वजतुल्यरूपा भवन्ति। उद्भूता उत्पन्ना भीषणा भयङ्करा जलोदरा नानारोगादयस्तेषां भारस्तेन भुग्नाः। तव पादावेव पङ्कजे तयो रजस्तदेवामृतं तेन दिग्धो लिप्तो देहो येषां ते। मकरध्वजेन कामेन तुल्यं रूपं येषां ते। कथंभूता मर्त्याः? शोच्यां दशामवस्थामुपगताः प्राप्ताः शोचयितुमर्हा शोच्या ताम्। पुनः कथंभूता? च्युता जीवितस्याशा येषां ते।

भावार्थ—हे नाथ! जो आपके चरणों का ध्यान करता है उसका भयंकर जलोदर रोग दूर हो जाता है।

नाम जाप से बंधन मुक्ति

आपाद - कण्ठमुरु - शृङ्खल - वेष्टिताङ्गा,
गाढम् बृहन् - निगड - कोटिनिघृष्ट-जङ्घाः।
त्वन्-नाम-मन्त्र-मनिशम् मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगत-बन्ध-भया भवन्ति॥४६॥

अन्वयार्थ—(आपादकण्ठम्) पाँव से लेकर कण्ठपर्यन्त **(उरु-शृङ्खल -वेष्टिताङ्गाः)** बड़ी-बड़ी साँकलों से जकड़ा हुआ है शरीर जिनका ऐसे और **(गाढं)** अत्यन्त कसकर बाँधी गईं **(बृहन्-निगड-कोटि-निघृष्ट-जङ्घाः)** बड़ी-बड़ी बेड़ियों के अग्रभाग से घिस गई हैं जाँघें जिनकी ऐसे **(मनुजाः)** मनुष्य **(अनिशम्)** निरन्तर **(त्वन्नाम-मन्त्रम्)** आपके नामरूपी मन्त्र को **(स्मरन्तः)** स्मरण करते हुए **(सद्यः)** शीघ्र ही **(स्वयम्)** अपने आप **(विगत-बन्धभयाः)** बंधन के भय से रहित **(भवन्ति)**

हो जाते हैं।

टीका—भो नाथ! मनुजा मनुष्या अनिशं निरन्तरं। त्वन्नाममन्त्रं भवदभिधानमन्त्रं। स्मरन्तः सन्तः। सद्यस्तत्कालं विगतबंधभयाः प्रणष्ट-बन्धभया भवन्ति। तव नाम त्वन्नाम एव मन्त्रस्त्वन्नाम मन्त्रस्तं। विगतं बन्धभयं येषां ते। कथंभूता मनुजाः? आपादकण्ठं इति पादकण्ठं आमर्यादीकृत्य उरूणि महान्ति तानि लोहशृङ्खलानि तैर्वेष्टितमङ्गं येषां ते। पुनः कथंभूतं? गाढं यथा स्यात्तथा बृहन्ति महान्ति यानि निगडानि तेषां कोटिभिरग्र-भागैर्निघृष्टा जङ्घा येषां ते।

भावार्थ—हे भगवन्! जो निरन्तर आपके नाम की जाप करता हैं उनके बेड़ी आदि बन्धन अपने आप छूट जाते हैं।

सर्व भय निवारक जिन स्तवन

मत्तद्विपेन्द्र - मृगराज - दवानलाहि-
संग्राम - वारिधि - महोदर -बन्ध-नोत्थम्।
तस्याशु नाश - मुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तव-मिमं मतिमान-धीते॥४७॥

अन्वयार्थ—(यः) जो **(मतिमान्)** बुद्धिमान् मनुष्य **(तावकम्)** आपके **(इमम्)** इस **(स्तवम्)** स्तोत्र को **(अधीते)** पढ़ता है **(तस्य)** उसका **(मत्तद्विपेन्द्र - मृगराज - दवानलाहि - संग्राम - वारिधि-महोदर-बन्धनोत्थम्)** मत्त हाथी, सिंह, वनाग्नि, साँप, युद्ध, समुद्र, जलोदर और बन्धन आदि से उत्पन्न हुआ **(भयम्)** डर **(भिया इव)** मानों भय से ही **(आशु)** शीघ्र **(नाशम्)** विनाश को **(उपयाति)** प्राप्त हो जाता है।

टीका—भो नाथ! यः कश्चिन्मतिमान् पुमान्। इमं प्रसिद्धं तावकं स्तवं। अधीते पापठीति। तस्य पुसः पुरुषस्य। मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाऽहि-सङ्ग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थं भयं प्रणाशमुपयाति व्रजति। मत्तद्विपेन्द्रश्च मृगराजश्च दावानलश्च अहिश्च सङ्ग्रामश्च वारिधिश्च महोदरं च जलोदरं च बन्धनानि च मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाऽहिसंग्रामवारिधि महोदरबन्धनानि तेभ्य उत्त्थं समुत्थितं। कयेव? उत्प्रेक्षते भियेव भयेनेव।

भावार्थ—हे प्रभो! आपका स्तवन करने से सब तरह के भय नष्ट हो जाते हैं।

स्तुति का फल

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र ! गुणैर्निबद्धां,
भक्त्या मया विविध-वर्ण-विचित्र-पुष्पाम्।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं,
तं 'मानतुङ्ग'-मवशा समुपैति लक्ष्मीः॥४८॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र!) हे जिनेन्द्रदेव! **(इह)** इस संसार में **(यः जनः)** जो मनुष्य **(मया)** मेरे द्वारा **(भक्त्या)** भक्तिपूर्वक **(गुणैः)** प्रसाद, माधुर्य, ओज आदि गुणों से [माला के पक्ष में–डोरे से] **(निबद्धाम्)** रची गई [माला पक्ष में–गूँथी गई] **(विविधवर्ण-विचित्रपुष्पाम्)** अनेक प्रकार के सुन्दर वर्णरूपी विविध प्रकार के पुष्पों वाली [माला पक्ष में–अच्छे रंग वाले कई तरह के फूलों से सहित] **(तव)** आपकी **(स्तोत्रस्रजम्)** स्तोत्ररूपी माला को **(अजस्रम्)** हमेशा **(कण्ठगताम् धत्ते)** कण्ठ में धारण करता है **(तम्)** उस **(मानतुङ्गम्)** सम्मान से उन्नत पुरुष को [अथवा स्तोत्र के रचने वाले मानतुङ्ग आचार्य को] **(अवशा लक्ष्मीः)** स्वतन्त्र स्वर्ग-मोक्षादि की विभूति **(समुपैति)** प्राप्त होती है।

टीका—भो जिनेन्द्र! इहलोके कश्चन पुमान् जनो। मया भक्त्या तव गुणैर्निबद्धां भवत्तीर्थङ्करगुणरचितां। स्तोत्रस्रजं स्तोत्रमालां कण्ठगतां धत्ते धरति। तं मानतुङ्गं जनं। लक्ष्मीः कमला अवशाद्गतचित्ता सती अजस्रं निरंतरं समुपैति प्राप्नोति। मानेन तुङ्गो महान् मानतुङ्गस्तं मानतुङ्ग कवेरभिधानं। स्तोत्रमेव स्रक् स्तोत्रस्रक्ताम्। यथा कश्चिद्गुणैः सूत्रैर्निबद्धां ग्रन्थितां सदृशां स्रजं कण्ठमालां बिभर्ति तं पुरुषं लक्ष्मीः शोभा समुपैति। कथंभूतां स्तोत्रस्रजं? विविधवर्णा एव विचित्राणि नानाविधानि पुष्पाणि यस्यां सा विविध-वर्णाविचित्रपुष्पा ताम्।

भावार्थ—हे नाथ! जो मनुष्य निरन्तर आपके इस स्तोत्र का पाठ करता है उसे हर एक तरह की लक्ष्मी प्राप्त होती है।

❑ ❑ ❑

ॐ

तार्किकचक्रचूड़ामणि श्री कुमुदचन्द्राचार्य
अपरनाम श्री सिद्धसेनदिवाकरविरचित

कल्याणमन्दिरस्तोत्रम्

(वसन्ततिलका छन्द)

मंगलाचरण

कल्याण - मन्दिर - मुदार - मवद्य भेदि,
भीताभय - प्रदमनिन्दित - मङ्घ्रि-पद्मम्।
संसार - सागर - निमज्जदशेष - जन्तु-,
पोतायमान - मभिनम्य जिनेश्वरस्य॥१॥
यस्य स्वयं सुरगुरु - र्गरिमाम्बु-राशेः।
स्तोत्रं सुविस्तृत-मति-र्न विभु-र्विधातुम्॥
तीर्थेश्वरस्य कमठ-स्मय - धूमकेतोस्-।
तस्याह-मेष किल संस्तवनं करिष्ये॥२॥
(युग्मम्)

अन्वयार्थ—(कल्याणमंदिरम्) कल्याणों के मंदिर **(उदारम्)** दाता या महान् **(अवद्यभेदि)** पापों को नष्ट करने वाले **(भीताभयप्रदम्)** संसार से डरे हुए जीवों को अभयपद देने वाले **(अनिन्दितं)** प्रशंसनीय **(संसार-सागर-निमज्ज-दशेष जन्तुपोतायमानम्)** संसाररूपी समुद्र में डूबते हुए समस्त जीवों के लिए जहाज के समान **(जिनेश्वरस्य)** जिनेन्द्र भगवान् के **(अङ्घ्रिपद्मम्)** चरण-कमलों को **(अभिनम्य)** नमस्कार करके **(गरिमाम्बुराशेः)** गौरव के समुद्र-स्वरूप **(यस्य)** जिन पार्श्वनाथ

की **(स्तोत्रम् विधातुम्)** स्तुति करने के लिए **(स्वयं सुविस्तृतमतिः)** स्वयं विशाल बुद्धि वाले **(सुरगुरुः)** बृहस्पति भी **(विभुः)** समर्थ **(न 'अस्ति')** नहीं है **(कमठ-स्मयधूमकेतोः)** कमठ का मान भस्म करने के लिए अग्निस्वरूप **(तस्य तीर्थेश्वरस्य)** उन पार्श्वनाथ भगवान् की **(किल)** आश्चर्य है कि **(एषः अहं)** यह मैं **(संस्तवनम् करिष्ये)** स्तुति करूँगा।

टीका—किलेति सम्भाव्यते। एषोऽहं कविस्तस्य जगत्प्रसिद्धस्य। जिनेश्वरस्य श्रीपार्श्वनाथतीर्थङ्करपरमदेवस्य। अङ्घ्रिपद्मं चरणकमलं। अभिनम्य प्रणिपत्य। संस्तवनं सम्यक्स्तोत्रं। करिष्ये करिष्यामीत्यर्थः। कथम्भूतमङ्घ्रिपद्मं? कल्याणानां माङ्गल्यराशीनां मन्दिरं निकेतनमित्यर्थः। अथवा पञ्चकल्याणानां स्थानमित्यर्थः। पुनः कथंभूतं? उदारं नाना सौख्यं प्रदातृत्वात्। पुनः कथंभूतं अवद्यं पापं भेदयतीति। पुनः कथंभूतं? भीतानां भयत्रस्तानां जन्तूनां अभयं जीवदानं प्रकर्षेण ददातीति। पुनः कथंभूतं? अनिंदितं प्रशस्यं सर्वामरपूजितत्वात्। पुनः कथंभूतं? संसारश्चतुर्गति-लक्षणः स एव संसार-समुद्रस्तत्र निमज्जंतश्च ते अशेषजन्तवः सर्वप्राणिनश्च तेषां पोतयते तत् पोतायमानं संसारसमुद्रतारणे प्रवहण-तुल्यमित्यर्थः। तस्य कस्य? यस्य तीर्थेश्वरस्य समस्ततीर्थानां स्वामिनः। सुरगुरुर्बृहस्पतिः स्वयं स्तोत्रं विधातुं कर्तुं न विभुः न समर्थः। कथंभूतस्य यस्य गुरोर्भावः गरिमा तस्य अम्बुराशिः समुद्रस्तस्य। कथंभूतः सुरगुरुः? सुखेन वा सुतरां विस्तृता मतिर्यस्य सः। पुनः कथंभूतस्य तस्य कमठचर-शम्बरनाम-ज्योतिष्कदेवस्य स्मयः गर्वस्तद्दलनाय धूमकेतुर्वह्निस्तस्य ॥युग्मं॥

भावार्थ—जिनेन्द्र ! भगवान् के चरण कमलों को नमस्कार कर मैं उन पार्श्वनाथ स्वामी की स्तुति करता हूँ, जो गुरुता के समुद्र थे और कमठ का मान मर्दन करने वाले थे तथा बृहस्पति भी जिनकी स्तुति करने के लिए समर्थ नहीं हो सका था।

लघुता अभिव्यक्ति

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप-
मस्मादृशाः कथमधीश भवन्त्यधीशाः ।

धृष्टोऽपि कौशिक-शिशुर्यदि वा दिवान्धो,
रूपं प्ररूपयति किं किल घर्म-रश्मेः?॥३॥

अन्वयार्थ—(अधीश!) हे स्वामिन्! **(सामान्यतः अपि)** साधारण रीति से भी **(तव)** आपके **(स्वरूपं)** स्वरूप को **(वर्णयितुं)** वर्णन करने के लिए **(अस्मादृशाः)** मुझ जैसे मनुष्य **(कथम्)** कैसे **(अधीशा)** समर्थ **(भवन्ति)** हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते हैं **(यदि वा)** अथवा **(दिवान्धः)** दिन में अन्धा रहने वाला **(कौशिकशिशुः)** उल्लू का बच्चा **(धृष्टः अपि 'सन्')** धीठ होता हुआ भी **(किम्)** क्या **(घर्मरश्मेः)** सूर्य के **(रूपम्)** रूप की **(प्ररूपयति किल)** वर्णन कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता।

टीका—भो अधीश! अस्मादृशाः पुमान्सः। सामान्यतोऽपि सामान्या-कारेणाऽपि। तव भगवतः। स्वरूपं वर्णयितुं यथावदाख्यातुं। कथमधीशाः समर्था भवन्ति। विशेषतः स्वरूपं वक्तुं कुतः समर्थाः। यदि वा युक्तोऽयमर्थः। किलेति सत्यं धृष्टोऽपि कौशिकशिशुः घूकः। दिवान्धः सन्। घर्मरश्मेः सूर्यस्य स्वरूपं। किं प्ररूपयति? अस्मादृशाः कवयस्तव निरञ्जनस्वरूपं वक्तु क्षमा न भवन्ति। क इव घूक इव। यथा घूको दिनपतेः सूर्यस्य किरणानि न प्ररूपयति। इति तात्पर्यार्थः।

भावार्थ—हे प्रभो! जिस तरह उल्लू का बालक सूर्य के रूप का वर्णन नहीं कर सकता, क्योंकि जब तक सूर्य रहता है तब तक वह अन्धा रहता है, इसी तरह मैं आपके सामान्य स्वरूप का भी वर्णन नहीं कर सकता, क्योंकि मैं भी मिथ्याज्ञानरूपी अन्धकार से अन्धा होकर आपके दर्शन से वञ्चित रहा हूँ।

अनिर्वचनीय गुणमहिमा

मोह - क्षयादनुभवन् - नपि नाथ! मर्त्यो,
नूनं गुणान् गणयितुं न तव क्षमेत।
कल्पान्त-वान्त-पयसः प्रकटोऽपि यस्मान्,
मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः॥४॥

अन्वयार्थ—(नाथ!) हे नाथ! **(मर्त्यः)** मनुष्य **(मोहक्षयात्)** मोहनीयकर्म के क्षय से **(अनुभवन् अपि)** अनुभव करता हुआ भी **(तव)** आपके **(गुणान्)** गुणों को **(गणयितुम्)** गिनने के लिए **(नूनम्)** निश्चय करके **(न क्षमेत)** समर्थ नहीं हो सकता **(यस्मात्)** क्योंकि **(कल्पान्त-वान्तपयसः)** प्रलयकाल के समय जिसका पानी बाहर हो गया है ऐसे **(जलधेः)** समुद्र की **(प्रकटः अपि)** प्रकट हुई भी **(रत्नराशिः)** रत्नों की राशि **(ननु केन मीयेत)** किसके द्वारा गिनी जा सकती है? अर्थात् किसी के द्वारा नहीं।

टीका—भो नाथ! भोः स्वामिन! नूनं निश्चितं! मर्त्यो मनुष्य मोहक्षयात् मोहनीयकर्मविनाशात्। अनुभवन्नपि जानन्नपि। तव परमेश्वरस्य गुणान्। गणयितु संख्याकर्तुं। न क्षमेत न समर्थो भवेत्। ननु युक्तोऽयमर्थो यस्मात्कारणात्केन पुन्सा। जलधेः समुद्रस्य प्रकटोऽपि रत्नराशिः। मीयते मानं कुर्वीत। कथंभूतस्य जलधेः? कल्पान्तः प्रलयस्तेन वान्तानि बहिष्कृतानि पयान्सि जलानि यस्य स तस्य।

भावार्थ—हे प्रभो! जिसतरह प्रलयकाल में पानी न होने से साफ साफ दिखने वाले समुद्र के रत्नों को कोई नहीं गिन पाता उसी तरह मिथ्यात्व के अभाव से साफ साफ दिखने वाले आपके गुणों को कोई नहीं गिन सकता, क्योंकि वे अनन्तानन्त हैं।

अल्पज्ञता प्रदर्शन

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ ! जडा-शयोऽपि,
कर्तुं स्तवं लसदसंख्य - गुणाकरस्य।
बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य,
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः॥५॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ! **('अहम्' जडाशयः अपि)** मैं मूर्ख भी **(लस-दसंख्यगुणाकरस्य)** सुशोभित असंख्यात गुणों की खानि स्वरूप **(तव)** आपके **(स्तवम् कर्तुम्)** स्तवन करने के लिए **(अभ्युद्यतः अस्मि)** तैयार हुआ हूँ, क्योंकि **(बालः अपि)** बालक भी **(स्वधिया)** अपनी बुद्धि

के अनुसार **(निजबाहुयुगम्)** अपने दोनों हाथों को **(वितत्य)** फैलाकर **(किम्)** क्या **(अम्बुराशेः)** समुद्र के **(विस्तीर्णताम्)** विस्तार को **(न कथयति)** नहीं कहता? अर्थात् कहता है।

टीका—भो नाथ! जडाशयोऽपि अहं। तव परमेश्वरस्य। स्तवं कर्तुमभ्युद्यतोस्मि उद्यमितोऽस्मि। कथंभूतस्य तव? लसन्तः शोभमानाः असंख्या ये गुणास्तेषामाकरस्तस्य। बालोऽपि स्वधिया बालस्वबुद्ध्या। निज बाहुयुगं वितत्य विस्तार्य। अम्बुराशेः समुद्रस्य। विस्तीर्णतां किं न कथयति न प्ररूपयति? अपि तु प्ररूपयतीति तात्पर्यार्थः।

भावार्थ—हे नाथ! जैसे बालक शक्ति न रहते हुए भी समुद्र का विस्तार वर्णन करने के लिए तैयार रहता है वैसे ही मैं भी आपकी स्तुति करने के लिए तैयार हूँ।

अविचारित कार्य

ये योगिना-मपि न यान्ति, गुणास्तवेश!,
वक्तुं कथं भवति तेषु ममाव-काशः?।
जाता तदेव-मसमीक्षित - कारितेयं,
जल्पन्ति वा निज-गिरा ननु पक्षिणोऽपि॥६॥

अन्वयार्थ—(ईश!) हे भगवन्! **(तव)** आपके **(ये गुणाः)** जो गुण **(योगिनाम् अपि)** योगियों को भी **(वक्तुम्)** कहने के लिए **(न यान्ति)** नहीं प्राप्त होते अर्थात् जिनका कथन योगीजन भी नहीं कर सकते **(तेषु)** उनमें **(मम)** मेरा **(अवकाशः)** अवकाश **(कथम् भवति)** कैसे हो सकता है? अर्थात् मैं उन्हें कैसे वर्णन कर सकता हूँ? **(तत्)** इसलिए **(एवम् इयम्)** इस प्रकार मेरा यह **(असमीक्षितकारिता जाता)** बिना विचारे काम करता हुआ **(वा)** अथवा **(पक्षिणः अपि)** पक्षी भी **(निजगिरा)** अपनी वाणी से **(जल्पन्ति ननु)** बोला करते हैं।

टीका—हे ईश! ये तव गुणा योगिनामपि वक्तुं न यान्ति न प्राप्नुवन्ति। तेषु गुणेषु ममावकाशः मम सामर्थ्यं कथं भवति। भो देव तत्तस्मात्कारणात्। एवमियमसमीक्षितकारिता जाता। अविचारितकार्यत्वं जातं। असमीक्षितस्य

अविचारितस्य कारिता असमीक्षितकारिता। वा अथवा। ननु निश्चितं। पक्षिणोऽपि निजगिरा स्वकीयवाण्या जल्पन्ति भणन्ति। तथैवाहमपीति भावः।

भावार्थ—हे प्रभो! आपका स्तवन प्रारम्भ करने के पहले मैंने इस बात का विचार नहीं किया कि आपके जिन गुणों का वर्णन बड़े-बड़े योगी भी नहीं कर सकते हैं उनका वर्णन मैं कैसे करूँगा? इसलिए हमारी यह प्रवृत्ति बिना विचारे हुई है।

प्रभु नाम

आस्ता-मचिन्त्य-महिमा जिन ! संस्तवस्ते,
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहत - पान्थजनान् निदाघे-
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि॥७॥

अन्वयार्थ—**(जिन!)** हे जिनेन्द्र! **(अचिन्त्यमहिमा)** अचिन्त्य है महिमा जिसकी, ऐसा **(ते)** आपका **(संस्तवः)** स्तवन **(आस्ताम्)** दूर रहे, **(भवतः)** आपका **(नाम अपि)** नाम भी **(जगन्ति)** जीवों को **(भवतः)** संसार से **(पाति)** बचा लेता है, क्योंकि **(निदाघे)** ग्रीष्मकाल में **(तीव्रातपोपहत-पान्थजनान्)** तीव्र घाम से सताये हुए पथिकजनों को **(पद्मसरसः)** कमलों के सरोवर का **(सरसः)** शीतल **(अनिलः अपि)** पवन भी **(प्रीणाति)** संतुष्ट करता है।

टीका—भो जिन! ते तव। संस्तवः स्तवनं। आस्तां दूरे तिष्ठतु। कथंभूतः संस्तवः? अचिन्त्यमहिमा अनिर्वचनीयमहिमा यस्य स इति अचिन्त्यमहिमा। भवतस्तव नामाऽपि अभिधानमपि। भवतः संसारात्। जगति पाति रक्षति। निदाघे ग्रीष्मे। पद्मसरसः पद्ममण्डिततडागरस्य सरसः रसेन जलच्छटाभिः सह वर्तमानः। अनिलोऽपि वायुस्तीव्रः दुस्सहः स चासावातपस्तेन उपहता उपद्रुताश्च ते पान्था जनाश्च पथिकास्तान् प्रीणाति तर्पयति।

भावार्थ—हे देव! आपके स्तवन की तो अचिन्त्य महिमा है ही, पर आपका नाम मात्र भी जीवों को संसार के दुःखों से बचा लेता है। जैसे

ग्रीष्मऋतु में घाम से पीड़ित मनुष्यों को कमलयुक्त सरोवर तो सुख पहुँचाते ही हैं, पर उन सरोवरों की शीतल हवा भी सुख पहुँचाती है।

जिन भक्ति से कर्मनाश

हृद्-वर्तिनि त्वयि विभो! शिथिली-भवन्ति,
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्मबन्धाः।
सद्यो भुजङ्गम-मया इव मध्यभाग-,
मभ्यागते वन-शिखण्डिनि चन्दनस्य॥८॥

अन्वयार्थ—(विभो!) हे स्वामिन्! **(त्वयि)** आपके **(हृद्वर्तिनि 'सति')** हृदय में मौजूद रहते हुए **(जन्तोः)** जीवों के **(निबिडाः कर्मबन्धाः अपि)** सघन कर्मों के बन्धन भी **(क्षणेन)** क्षणभर में **(वनशिखण्डिनि अभ्यागते)** वन मयूर के आने पर **(चन्दनस्य मध्यभागम् 'सति')** चन्दनवृक्ष के मध्यभाग में **(भुजङ्गम-मयाः इव)** सर्पों के बंधनरूप कुण्डलियों के समान **(सद्यः)** शीघ्र ही **(शिथिलीभवन्ति)** ढीले पड़ जाते हैं।

टीका—हे विभो! त्वयि भगवति हृद्वर्तिनि सति चित्ते वर्तयति सति। जन्तोः प्राणिनः। निबिडा अपि कर्मबन्धाः क्षणेन क्षणमात्रेण। शिथिलीभवन्ति। हृदि वर्तत इत्येवंशीलः हृद्वर्ती तस्मिन्। कर्मणां बन्धाः कर्मबन्धाः अशिथिलाः शिथिला भवन्तीति शिथिलीभवन्ति। के इव? भुजङ्गममया बन्धा इव। यथा वनशिखण्डिनि वनमयूरे। चन्दनस्य मध्य-भागमभ्यागते सति भुजङ्गममया बन्धा इव सद्यः तत्कालं शिथिलीभवन्ति। भुजङ्गमप्रकारा भुजङ्गममयाः प्रकारे मयट्।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस तरह मयूर के आते ही चन्दन वृक्ष में लिपटे हुए साँप ढीले पड़ जाते हैं उसी तरह जीवों के हृदय में आपके आने पर उनके कर्मबन्धन ढीले पड़ जाते हैं।

प्रभु दर्शन की महिमा

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र!
रौद्रैरुपद्रव - शतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि।

गो-स्वामिनि स्फुरित - तेजसि दृष्टमात्रे:,
चौरै-रिवाशु पशव: प्रपलायमानै:॥९॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र!) हे जिनेन्द्र! **(स्फुरिततेजसि)** पराक्रमी **(गोस्वामिनि दृष्टमात्रे)** राजा के दिखते ही **(आशु)** शीघ्र ही **(प्रपलाय-मानै:)** भागते हुए **(चौरै:)** चोरों के द्वारा **(पशव: इव)** पशुओं की तरह **(त्वयि वीक्षिते अपि)** आपके दिखते ही/आपके दर्शन करते ही **(मनुजा:)** मनुष्य **(रौद्रै:)** भयङ्कर **(उपद्रवशतै:)** सैकड़ों उपद्रवों के द्वारा **(सहसा एव)** शीघ्र ही **(मुच्यन्ते)** छोड़ दिये जाते हैं।

टीका—भो जिनेन्द्र! त्वयि भगवति वीक्षिते सति। रौद्रैरपि उपद्रवशतै: उपसर्गकोटिभि:। मनुजा: सहसा मुच्यन्त एव विमुक्ता एव। कैरिव? चौरैरिव। यथा: चौरै: गोस्वामिनि नृपे दृष्टमात्रे सति। आशु शीघ्रं। पशव: मुच्यंते। कथंभूते गोस्वामिनि? स्फुरितुं प्रतापाक्रान्तं तेजो यस्य स तस्मिन्। कथंभूतैश्चौरै:। प्रकर्षेण पलायमाना: प्रपलायमानास्तै: शीघ्रं नश्यद्भि:।

भावार्थ—हे नाथ! जिस तरह तेजस्वी मालिक के दिखते ही चोर चुराई हुई गायों को छोड़कर शीघ्र ही भाग जाते हैं उसीतरह आपके दर्शन होते ही अनेक भयंकर उपद्रव मनुष्यों को छोड़कर भाग जाते हैं।

भवसिन्धु तारक जिन

त्वं तारको जिन! कथं भविनां त एव,
त्वामुद् - वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्त:।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जल-मेष नून-,
मन्तर्गतस्य मरुत: स किलानुभाव:॥१०॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्रदेव! **(त्वम्)** आप **(भविनाम्)** संसारी जीवों के **(तारक: कथम्)** तारने वाले कैसे हो सकते हैं? **(यत्)** क्योंकि **(उत्तरन्त:)** संसार-समुद्र से पार होते हुए **(ते एव)** वे संसारी जीव ही **(हृदयेन)** हृदय से **(त्वाम्)** आपको **(उद्वहन्ति)** तिरा ले जाते हैं। **(यद्वा)** अथवा ठीक ही है **(दृति:)** मसक **(यत्)** जो **(जलम् तरति)** जल में तैरती है **(स: एष:)** वह यह **(नूनम्)** निश्चय से **(अन्तर्गतस्य)** भीतर स्थित

(मरुत:) हवा का **(किल अनुभाव:)** निश्चित ही प्रभाव है।

टीका—यत् यस्मात्कारणात्। त एव प्राणिन: भवाब्धे उत्तरन्त: सन्तो हृदयेन त्वां उद्वहन्ति तारयन्ति। अहमेवं सम्भावयामि भव: संसार: विद्यते येषां ते भविनस्तेषां भविनां। यद्वा युक्तोऽयमर्थ:। यत् यस्मात्कारणात् दृतिश्चर्मभस्त्रिका जलं तरति। नूनं निश्चितं। किलेति सत्ये। एष अन्तर्गतस्य मरुत: पूरितस्य वायोरनुभाव: प्रभाव:।

भावार्थ—हे प्रभो! जिस तरह भीतर भरी हुई वायु के प्रभाव से मसक पानी में तैरती है उसी तरह आपको हृदय में धारण करने वाले (मन से आपका चिन्तन करने वाले) पुरुष आपके ही प्रभाव से संसार-समुद्र से तिरते हैं।

मदन विजेता पार्श्वनाथ

यस्मिन् हर - प्रभृतयोऽपि हत-प्रभावा:,
सोऽपि त्वया रतिपति: क्षपित: क्षणेन।
विध्यापिता हुतभुज: पयसाथ येन,
पीतं न किं तदपि दुर्धर-वाडवेन॥११॥

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिसके विषय में **(हरप्रभृतय: अपि)** विष्णु-महादेव आदि भी **(हतप्रभावा: 'जाता:')** प्रभाव रहित हो गए हैं **(स:)** वह **(रतिपति: अपि)** कामदेव भी **(त्वया)** आपके द्वारा **(क्षणेन)** क्षणमात्र में **(क्षपित:)** नष्ट कर दिया गया **(अथ)** अथवा ठीक है कि **(येन पयसा)** जिस जल के द्वारा **(हुतभुज: विध्यापिता:)** अग्नि बुझायी जाती है **(तत् अपि)** वह जल भी **(दुर्द्धरवाडवेन)** प्रचण्ड बड़वानल से **(किम्)** क्या **(न पीतम्)** नहीं पिया गया? अर्थात् पिया गया।

टीका—भो पार्श्वनाथ! यस्मिन् कामे हरिप्रभृतयोऽपि ब्रह्माविष्णु-महेशादयो हतप्रभावा निरस्तशक्तयो जाता: सोऽपि रतिपति: कामस्त्वया क्षणेन क्षणमात्रेण क्षपितो ध्वस्त:। अथ युक्तोऽयमर्थ:। येन पयसा हुतभुजोऽग्नयो विध्यापिता निरस्तास्तदपि जलं दुर्द्धरवाडवेन दु:सहवाड-वाग्निना किं न पीतं? अपि तु शोषितमित्यर्थ:।

भावार्थ—जिस काम ने हरि–हर–ब्रह्मा आदि महापुरुषों को पराजित कर दिया था उस काम को भी आपने पराजित कर दिया यह आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि जो जल संसार की समस्त अग्नि को नष्ट करता है उस जल को भी बड़वानल नामक समुद्र की अग्नि नष्ट कर डालती है।

महापुरुषों का अचिन्त्य प्रभाव

स्वामिन्! - ननल्प - गरिमाणमपि प्रपन्नाः,
त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः।
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यति - लाघवेन,
चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः॥१२॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्!) हे प्रभो! **(अहो)** आश्चर्य है कि **(अनल्प-गरिमाणम् अपि)** अधिक गौरव से युक्त भी विरोध पक्ष में—अत्यन्त वजनदार **(त्वाम्)** आपको **(प्रपन्नाः)** प्राप्त हो **(हृदये दधानाः)** हृदय में धारण करने वाले **(जन्तवः)** प्राणी **(जन्मोदधिम्)** संसार–समुद्र को **(अतिलाघवेन)** बहुत ही लघुता से **(कथम्)** कैसे **(लघु तरन्ति)** शीघ्र तर जाते हैं **(यदि वा)** अथवा **(हन्त)** हर्ष है कि **(महताम्)** महापुरुषों का **(प्रभावः)** प्रभाव **(चिन्त्यः)** चिन्तन के योग्य **(न भवति)** नहीं होता है।

टीका—भो स्वामिन्! अतुल्यगरिमाणमपि मानरहितगुरुत्वभारा-क्रान्तमपि। त्वां प्रपन्नाः प्राप्ता जन्तवः अहो इत्याश्चर्ये। हृदये दधानाः सन्तः। लघु यथा स्यात्तथा। जन्मोदधिं भवार्णवं। अतिलाघवेन शीघ्रेण। कथं तरन्ति? अन्यत् गुरुत्वाक्रान्तवस्तु हृदये दधानाः सन्तः प्राणिनोऽब्धौनिमज्जन्ति। त्वां गुरुत्वाक्रान्तं हृदये दधानाः सन्तः भवार्णवे तरन्ति तन्मम मनसि महच्चित्रं। यदि वा पक्षान्तरे हन्त इत्यहो महतां महानुभावानां परमपुरुषाणां प्रभावो लोकोत्तरो महिमा न चिन्त्यः नो विचारणीय इत्यर्थः।

भावार्थ—श्लोक में आये हुए 'अनल्पगरिमाणम्' पद के 'अधिक वजनदार' और "अत्यन्त गौरव से युक्त श्रेष्ठ" इस तरह दो अर्थ होते हैं। उनमें से आचार्य ने प्रथम अर्थ को लेकर उस विरोध को बतलाते हुए आश्चर्य प्रकट किया है और दूसरे अर्थ को लेकर उस विरोध का परिहार

किया है।

क्रोध के अभाव का प्रभाव

क्रोधस्त्वया यदि विभो! प्रथमं निरस्तो,
ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्मचौराः।
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके,
नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी॥१३॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे प्रभो! **(यदि)** यदि **(त्वया)** आपके द्वारा **(क्रोधः)** क्रोध **(प्रथमम्)** पहले ही **(निरस्तः)** नष्ट कर दिया गया था, **(तदा)** तो फिर **(वद)** कहिए कि आपने **(कर्मचौराः)** कर्मरूपी चोर **(कथम्)** कैसे **(ध्वस्ताः किल)** नष्ट किए? **(यदि वा)** अथवा **(अमुत्र लोके)** इसलोक में **(हिमानी)** बर्फ–तुषार **(शिशिरापि)** ठण्डा होने पर भी **(किम्)** क्या **(नीलद्रुमाणि)** हरे–हरे हैं वृक्ष जिनमें ऐसे **(विपिनानि)** वनों को **(न प्लोषति)** नहीं जला देता है? अर्थात् जला देता है/मुरझा देता है।

टीका—भो विभो! भो त्रिजगन्नाथ! यदि चेत्त्वया भगवता। क्रोधः प्रथमं निरस्तो निराकृतः। तदा तर्हि। वतेति विस्मयावहम्। किलेति सत्ये। कर्मचौरा अष्टकर्मदस्यवः। कथं ध्वस्ताः निर्मूलिताः। कर्माण्येव चौराः कर्मचौराः। यदि वा युक्तोऽयमर्थः। अमुत्र लोके। शिशरापि शीतलापि। हिमानी हिमसंहतिः। नीलद्रुमाणि विपिनानि किं न प्लोषति न दहति? अपि तु प्लोषत्येव। नीला हरितो द्रुमा वृक्षा येषु तानि। प्लुष दाहे इत्यस्य धातोः प्रयोगः।

भावार्थ—लोक में ऐसा देखा जाता है कि क्रोधी मनुष्य ही शत्रुओं को जीतते हैं, पर भगवन् आपने क्रोध को तो नवमें गुणस्थान में ही जीत लिया था। फिर क्रोध के अभाव में चौदहवें गुणस्थान तक कर्मरूपी शत्रुओं को कैसे जीता? आचार्य ने इस लोकविरुद्ध बात पर पहले आश्चर्य प्रकट किया, पर जब बाद में उन्हें ख्याल आता है कि ठण्डा तुषार बड़े–बड़े वनों को क्षणभर में जला देता है अर्थात् क्षमा से भी शत्रु जीते जा

सकते हैं, तब वे अपने आश्चर्य का स्वयं समाधान कर लेते हैं।

आत्मा की खोज

त्वां योगिनो जिन! सदा परमात्मरूप,
मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुज - कोशदेशे॥
पूतस्य निर्मल-रुचेर्यदि वा किमन्य,
दक्षस्य सम्भव-पदं ननु कर्णिकायाः॥१४॥

अन्वयार्थ—(जिन!) हे जिन! **(योगिनः)** ध्यान करने वाले मुनीश्वर **(सदा)** हमेशा **(परमात्मरूपम्)** परमात्मास्वरूप **(त्वाम्)** आपको **(हृदयाम्बुज-कोशदेशे)** अपने हृदयरूप कमल के मध्यभाग में **(अन्वेषयन्ति)** खोजते हैं **(यदि वा)** अथवा ठीक है कि **(पूतस्य निर्मलरुचेः)** पवित्र और निर्मल कान्ति वाले **(अक्षस्य)** कमल के बीज का अथवा शुद्धात्मा का **(सम्भवपदम्)** उत्पत्ति स्थान अथवा खोज करने का स्थान **(कर्णिकायाः अन्यत्)** कमल की कर्णिका/डण्ठल को छोड़कर अथवा हृदय-कमल की कर्णिका को छोड़कर **(अन्यत् किम् ननु)** दूसरा क्या हो सकता है?

टीका—भो जिन! योगिनः सर्वदा सर्वकाले। हृदयाम्बुजकोशदेशे निजमनोऽम्बुजकोटरे। त्वां परमात्मरूपं चिदानन्दरूपं। अन्वेषयन्ति गवेषयन्ति। परं सर्वोत्कृष्टं मं ज्ञानं यस्य स चासावात्मा स एव रूपं स्वरूपं यस्य स तं। हृदयमेवाम्बुजं कमलं हृदयाम्बुजं तस्य कोशदेश-स्तस्मिन्। यदि वा युक्तोऽसमर्थः ननु निश्चितं कर्णिकायाः सकाशात् अन्यत् पूतस्य निर्मलस्य अक्षस्य कमलबीजस्य। यत् स्थानं किं सम्भवि सम्भवति? अपि तु न सम्भवति। कथंभूतस्य अक्षस्य? निर्मला रुचिर्यस्य स तस्य।

भावार्थ—बड़े बड़े योगीश्वर ध्यान करते समय अपने हृदय कमल में आपको खोजते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि जैसे कमल बीज की उत्पत्ति कमल कर्णिका में ही होती है उसी तरह शुद्धात्म स्वरूप आपका सद्भाव भी हृदय कमल की कर्णिका में ही होगा। श्लोक में आये हुए अक्ष शब्द के 'कमलबीज कमलगटा' और आत्मा **(अक्ष्णोति-**

जानातीत्यक्ष: = आत्मा) इस तरह दो अर्थ होते हैं।

परमात्म ध्यान का लाभ

ध्यानाज्जिनेश! भवतो भविन: क्षणेन,
देहं विहाय परमात्म-दशां व्रजन्ति॥
तीव्रानलादुपल-भावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातु-भेदा:॥१५॥

अन्वयार्थ—(जिनेश!) हे जिनेश! **(लोके)** लोक में **(इव)** जैसे **(तीव्रानलात्)** तीव्र अग्नि के सम्बन्ध से **(धातुभेदा:)** अनेक धातुएँ **(उपलभावम्)** पत्थररूप पूर्वपर्याय को **(अपास्य)** छोड़कर **(अचिरात्)** शीघ्र ही **(चामीकरत्वम्)** सुवर्ण पर्याय को **(व्रजन्ति)** प्राप्त होती हैं उसी तरह **(भविन:)** संसार के प्राणी **(भवत:)** आपके **(ध्यानात्)** ध्यान से **(देहम्)** शरीर को **(विहाय)** छोड़कर **(क्षणेन)** क्षणभर में **(परमात्म-दशाम्)** परमात्मा की अवस्था को **(व्रजन्ति)** प्राप्त होते हैं।

टीका—भो जिनेश! भविन: प्राणिन:। भवतो ध्यानात्। क्षणेन क्षण-मात्रेण। देहं शरीरं। विहाय समुत्सृज्य। परमात्मदशां परमात्मावस्थां व्रजन्ति प्राप्नुवन्ति। परमात्मनो दशा ताम्। क इव? धातुभेदा इव। यथा धातुभेदा: सुवर्णोपला: लोके संसारे। तीव्रानलात् अत्यन्तदु:सहाग्ने: सकाशात्। उपलभावं उपलत्वं। अपास्य विहाय। अचिरात् अचिरकालेन। चामीकरत्वं सुवर्णभावं गच्छन्ति। तीव्रश्चासौ अनलश्च तीव्रनलस्तस्मात्। चामीकरस्य भाव: चामीकरत्वम्।

भावार्थ—जो जीव आपका ध्यान करते हैं वे थोड़े ही समय में शरीर छोड़कर मुक्त हो जाते हैं।

ध्यान से बन्धन मुक्ति

अन्त: सदैव जिन! यस्य विभाव्यसे त्वम्,
भव्यै: कथं तदपि नाशयसे शरीरम्?।
एतत्स्वरूपमथ मध्य-विवर्तिनो हि,
यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावा:॥१६॥

अन्वयार्थ—(जिन!) हे जिनेन्द्र! **(भव्यैः)** भव्यजीवों के द्वारा **(यस्य)** जिस शरीर के **(अन्तः)** भीतर **(त्वम्)** आप **(सदैव)** हमेशा **(विभाव्यसे)** ध्याये जाते हैं **(तत्)** उस **(शरीरम् अपि)** शरीर को ही आप **(कथम्)** क्यों **(नाशयसे)** नष्ट करा देते हैं? **(अथ)** अथवा **(एतत् स्वरूपम्)** यह स्वभाव ही है **(यत्)** कि **(मध्यविवर्तिनः)** मध्यस्थ-बीच में रहने वाले और राग-द्वेष से रहित **(महानुभावाः)** महापुरुष **(विग्रहम्)** विग्रह शरीर और द्वेष को **(प्रशमयन्ति)** शान्त करते हैं।

टीका—हे जिन! यस्य शरीरस्यान्तर्मध्ये। सदैव सर्वदा काले। भव्यैः प्राणिभिस्त्वं। विभाव्यसे स्मर्यसे। तदपि शरीरं कथं नाशयसे अथ पक्षे। हि युक्तोऽयमर्थः। हि यस्मात्कारणात्। मध्यविवर्तिनां प्राणिनां एतत् स्वरूपं एतत् किं? यत् मध्यविवर्तिनो महानुभावाः विग्रहं कलहं पक्षे शरीरं। प्रशमयंति उपशमयंति। मध्ये विवर्तन्त इत्येवंशीलाः मध्यविवर्तिनः। महान् अनुभावः महिमा येषां ते महानुभावाः।

भावार्थ—लोक में रीति प्रचलित है कि जो जहाँ रहता है अथवा जहाँ जिसका ध्यान सम्मान आदि किया जाता है वह उस जगह का विनाश नहीं करता। पर भगवन्! आप भव्य जीवों के जिस शरीर में हमेशा सन्मान पूर्वक ध्याये जाते हैं आप उन्हें उसी तरह विग्रह (शरीर) को नष्ट करने का उपदेश देते हैं। आचार्य को पहले इस लोकविरुद्ध बात पर भारी आश्चर्य होता है पर जब उनकी दृष्टि विग्रह शब्द के द्वेष अर्थ पर जाती है तब उनका आश्चर्य दूर हो जाता है। श्लोक में आये हुए विग्रह शब्द के दो अर्थ हैं एक 'शरीर' और दूसरा 'द्वेष' इसी तरह 'मध्यविवर्तिनः' शब्द के भी दो अर्थ हैं एक ''बीच में रहने वाला'' और दूसरा ''रागद्वेष से रहित समताभावी''।

परमात्म स्वरूप का अनुभव

आत्मा मनीषिभि-रयं त्वदभेद-बुद्ध्या
ध्यातो जिनेन्द्र! भवतीह भवत्प्रभावः।
पानीय - मप्यमृत - मित्यनुचिन्त्यमानं,
किन्नाम नो विष-विकार-मपाकरोति॥१७॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र!) हे जिनेन्द्र! **(मनीषिभिः)** बुद्धिमानों के द्वारा **(त्वदभेद-बुद्ध्या)** "आपसे अभिन्न है" ऐसी बुद्धि से **(ध्यातः)** ध्यान किया गया **(अयम् आत्मा)** यह आत्मा **(भवत्प्रभावः)** आप ही के समान प्रभाव वाला **(भवति)** हो जाता है **(अमृतम् इति अनुचिन्त्यमानम्)** यह अमृत है, इस तरह निरन्तर चिन्तन किया जाने वाला **(पानीयम् अपि)** पानी भी **(किम्)** क्या **(विषविकारम्)** विष के विकार को **(नो अपाकरोति नाम)** दूर नहीं करता? अर्थात् करता है?

टीका—भो जिनेन्द्र! मनीषिभिः पुंभिः अयं प्रमाणसिद्धः। आत्मा त्वदभेदबुद्ध्या त्वत्तः सकाशादभिन्नधिया। ध्यातः सन् इह लोके भवत्प्रभावो भवति। यादृशो भवत्प्रभावस्तादृशेन प्रभावेन युक्तो भवति। त्वत्सदृशो भवतीत्यर्थः। मनीषा बुद्धिर्विद्यते येषां ते तैः। त्वत्तः अभेदः ऐक्यं तस्य बुद्धिस्तया भवद्वत् प्रभावो यस्य सः। पानीयमपि अमृतं पीयूष इत्यनुचिन्त्यमानं स्मर्यमाणं सत् नामेति निश्चितं। विषविकारं किन्नो अपाकरोति? किं नो दूरीकरोति? अपि तु करोतीत्यर्थः। विषस्य विकारो विषविकारस्तम्।

भावार्थ—जो पुरुष अपने आपको आपसे अभिन्न अनुभव करता है अर्थात् जो सोचता है कि—"भगवन्! जैसी विशुद्ध आत्मा आपकी है निश्चय नय से हमारी आत्मा भी वैसी ही आपके समान विशुद्ध है किन्तु वर्तमान में कर्मोदय से अशुद्ध हो रही है। यदि मैं भी आपके रास्ते पर चलने का प्रयत्न करूँ तो मेरी आत्मा भी शुद्ध हो जायेगी"। ऐसा सोचकर जो शुद्ध होने का प्रयत्न करता है वह आपके ही समान शुद्ध हो जाता है। जैसे कि यह अमृत है, इस प्रकार निरन्तर चिन्तन किया गया पानी मन्त्रादि के संयोग से अमृतरूप हो जाता है और विष के विकार को दूर करने लगता है।

सर्वमान्य वीतराग जिन

त्वामेव वीत - तमसं परवादिनोऽपि,
नूनं विभो! हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।

किं काच-कामलिभिरीश! सितोऽपि शङ्खो,
नो गृह्यते विविध-वर्ण-विपर्ययेण॥१८॥

अन्वयार्थ—(विभो!) हे स्वामिन्! **(परवादिनः अपि)** अन्य मतावलम्बी पुरुष भी **(वीततमसम्)** अज्ञान अन्धकार से रहित **(त्वाम् एव)** आपको ही **(नूनम्)** निश्चय से **(हरिहरादिधिया)** विष्णु, महादेवादि की कल्पना से **(प्रपन्नाः)** प्राप्त होते हैं/पूजते हैं **(किम्)** क्या **(ईश!)** हे विभो! **(काचकामलिभिः)** जिनकी आँख पर रंगदार चश्मा है अथवा जिन्हें पीलिया रोग हो गया है, ऐसे पुरुषों के द्वारा **(शङ्खः सितः अपि)** शंख सफेद होने पर भी **(विविधवर्ण-विपर्ययेण)** अनेक प्रकार के विपरीत वर्णों से **(नो गृह्यते)** ग्रहण नहीं किया जाता है? अर्थात् किया जाता है।

टीका—भो विभो! नूनं निश्चितं। परवादिनोऽपि नैयायिकादयः। त्वामेव परमेश्वरं। हरिहरादिधिया ब्रह्माविष्णुमहेशसुगतादिबुद्ध्या। प्रपन्नाः प्राप्ताः। ध्यायन्तीत्यर्थः। हरिनारायणो हर ईश्वर इत्यादीनां धीस्तया। कथंभूतं त्वां? वीतं निराकृतं तमो येन स वीततमास्तं वीततमसं। परे च ते वादिनश्च पर वादिनः। भो ईश! एतद्युक्तं काचकामलिभिः पुंभिः। सितोऽपि उज्ज्वलोऽपि शंखः। विविधवर्णविपर्ययेण नानाविधरक्तपीतादिवर्णभ्रान्त्या। अन्यथारूपेण किं नो गृह्यते? अपि तु गृह्यत एव। चक्षुषो भ्रान्तिकारी काचकामलरोगो विद्यते येषां ते तैः। विविधाश्च ते वर्णाश्च विविध-वर्णास्तेषां विपर्ययस्तेन।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस तरह पीले चश्मावाला अथवा पीलिया रोग वाला मनुष्य सफेद शंख को पीला समझकर ग्रहण करता है उसीतरह मिथ्यात्व के उदय से अन्य मतावलम्बी पुरुष आपको विष्णु, महेश्वर आदि मानकर पूजते हैं।

अशोक प्रातिहार्य

धर्मोपदेश - समये सविधानु - भावा-,
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि।
किं वा विबोध-मुपयाति न जीवलोकः॥१९॥

अन्वयार्थ–(धर्मोपदेशसमये) धर्मोपदेश के समय **(ते)** आपकी **(सविधानु-भावात्)** समीपता के प्रभाव से **(जनः आस्ताम्)** मनुष्य तो दूर रहे **(तरुः अपि)** वृक्ष भी **(अशोकः)** अशोक/शोक रहित **(भवति)** हो जाता है। **(वा)** अथवा **(दिनपतौ अभ्युद्गते 'सति')** सूर्य के उदय होने पर **(समहीरुहः अपि जीवलोकः)** वृक्षों सहित समस्त जीवलोक **(किम्)** क्या **(विबोधम्)** विकास/विशेष ज्ञान को **(न उपयाति)** नहीं प्राप्त होते अर्थात् होते हैं।

टीका–भो परमेश्वर! धर्मोपदेशसमये धर्मदेशनाकाले। तव परमेश्वरस्य। सविधानुभावात् सामीप्यप्रभावात्। जनोः लोकः। आस्तां तिष्ठतु। तरुरपि अशोको भवति शोकरहितो भवति। तत्र लोकोऽपि भवतीति किमाश्चर्यं इति भावः। धर्मस्य उपदेशस्तस्य समयः दिव्यध्वनिकालस्तस्मिन्। सविधस्य अनुभावः महिमा तस्मात्। वा युक्तोऽयमर्थः दिनपतौ सूर्ये। अभ्युद्गते सति समन्तादुदिते सति। समहीरुहोऽपि वृक्षसहितोऽपि। जीवलोकः प्राणिवर्गः। विबोधं ज्ञानं किं न उपयाति? जाग्रदवस्थां किं न गच्छति? अपि तु उपयातीत्यर्थः। महीरुहैः सह वर्तमानः समहीरुहः।

भावार्थ–इस श्लोक में अशोक शब्द के दो अर्थ हैं एक अशोक वृक्ष और दूसरा शोक रहित। इसी तरह विबोध शब्द के भी दो अर्थ हैं एक विशेष ज्ञान और दूसरा हरा भरा तथा प्रफुल्लित होना। हे भगवन् ! जब आपके पास मे रहने वाला वृक्ष भी अशोक हो जाता है तब आपके पास रहने वाला मनुष्य अशोक अर्थात् शोक रहित हो जावे इसमें क्या आश्चर्य है? यह '**अशोक वृक्ष**' प्रातिहार्य का वर्णन है।

पुष्प वृष्टि प्रातिहार्य

चित्रं विभो! कथमवाङ्मुख - वृन्तमेव।
विष्वक् पतत्य-विरला सुर-पुष्प-वृष्टिः॥
त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश!
गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि॥२०॥

अन्वयार्थ–(विभो!) हे स्वामिन्! **(चित्रम्)** आश्चर्य है कि

(विष्वक्) सब ओर **(अविरला)** व्यवधान रहित **(सुरपुष्पवृष्टि:)** देवों के द्वारा की हुई पुष्पों की वर्षा **(अवाङ्मुखवृन्तम् एव)** नीचे डण्ठल और ऊपर को है पांखुरी जिसकी ऐसी ही **(कथम्)** क्यों **(पतति)** गिरती है? **(यदि वा)** अथवा ठीक ही है कि **(मुनीश!)** हे मुनियों के नाथ! **(त्वद्गोचरे)** आपके समीप **(सुमनसाम्)** पुष्पों अथवा विद्वानों के **(बन्धनानि)** डंठल अथवा कर्मों के बन्धन **(नूनम् हि)** निश्चय से **(अध: एव गच्छन्ति)** नीचे को ही जाते हैं।

टीका—हे विभो! सुरपुष्पवृष्टि अवाङ्मुखवृन्तमेव यथा स्यात्तथा विष्वक् समन्तात् कथं पतति? एतन्महच्चित्रं अवाङ्मुखानि अधोमुखानि वृंतानि प्रसवबन्धनानि यत्र क्रियायां तत् वृन्तं प्रसवबन्धनमित्यमर:। सुराणां देवानां पुष्पवृष्टि:। न विरला अविरला निबिडा चेत्यर्थ:। यदि वा युक्तोऽयमर्थ:। नूनं निश्चितं। भो मुनीश। सुमनसां प्राणिनां त्वद्गोचरे त्वत्सान्निध्ये। बन्धनानि अध एव गच्छन्ति। यथा सुमनसां पुष्पाणां अधोमुखेन वृन्तपतनं तथा बन्धनानि कर्मबन्धनान्यपि सुमनसां प्राणिनां अधो गच्छन्तीति भाव:। सुष्ठु मनो येषां ते सुमनसस्तेषां। पुष्पं सुमनसं फुल्लमिति धनञ्जय:।

भावार्थ—इस श्लोक में सुमनस् शब्द के दो अर्थ हैं-एक फूल और दूसरा विद्वान् या देव। इसी तरह बन्धन शब्द के भी दो अर्थ हैं-एक फूलों का बन्धन डंठल और दूसरा कर्मों के प्रकृति आदि चार तरह के बन्ध। हे भगवन्! जो आपके पास रहता है उसके कर्मों के बन्धन नीचे चले जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। इसलिए तो आपके ऊपर जो फूलों की वर्षा होती है उनमें फूलों के बन्धन नीचे होते हैं और पांखुरी ऊपर। यह '**पुष्पवृष्टि**' प्रातिहार्य वर्णन है।

दिव्यध्वनि प्रातिहार्य

स्थाने गभीर - हृदयोदधि - सम्भवाया:,
पीयूषतां तव गिर: समुदीरयन्ति।
पीत्वा यत: परम - सम्मद - सङ्ग - भाजो,
भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरा-मरत्वम्॥२१॥

अन्वयार्थ—(गभीरहृदयोदधिसम्भवायाः) गम्भीर हृदयरूपी समुद्र से पैदा हुई **(तव)** आपकी **(गिरः)** वाणी के **(पीयूषताम्)** अमृतपने को लोग **(स्थाने)** ठीक ही **(समुदीरयन्ति)** प्रकट करते हैं **(यतः)** क्योंकि **(भव्याः)** भव्यजीव **(ताम् पीत्वा)** उसे पीकर **(परमसम्मदसङ्गभाजः 'सन्तः')** परमसुख के भागी होते हुए **(तरसा अपि)** बहुत ही शीघ्र **(अजरामरत्वम्)** अजर-अमरपने को **(व्रजन्ति)** प्राप्त होते हैं।

टीका—भो प्रभो! तव परमेश्वरस्य। गिरः दिव्यध्वनयः। पीयूषतां अमृतभावं। समुदीरयन्ति जना गिरोऽमृतमयाः कथयन्ति। पीयूषस्य भावः पीयूषता तां। एतत् स्थाने इति युक्तं। कुतः यतः कल्याणात्। भव्याः प्राणिनः। या अमृतमया गिरः पीत्वा। तरसापि वेगेन। अजरामरत्वं व्रजन्ति अजरामरस्य भावः अजरामरत्वं। कीदृशाः भव्याः? परमः सर्वोत्कृष्टः चासौ सम्मदः आनन्दस्तत्सङ्गं संयोगं भजन्ते इत्येवंशीलाः। कथंभूता गिरः? गम्भीरं च तत् हृदयं च तदेव उदधिः समुद्रः तस्मात्सम्भवः उत्पत्तिर्यासां ताः।

भावार्थ—लोक में प्रचलित है कि अमृत गहरे समुद्र से निकला था और उसका पान करने से देव लोग अत्यन्त आनन्दित होते हुए अजर=बुढ़ापा रहित तथा अमर=मृत्युरहित हो गये थे। भगवन्! आपकी वाणी भी आपके गंभीर हृदयरूपी समुद्र से पैदा हुई है और उसके सेवन करने से लोक परम सुखी हो अजर-अमर हो जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं ऐसी हालत में लोग यदि यह कहें कि आपकी वाणी अमृत है तो ठीक ही कहते हैं। यह **'दिव्यध्वनि'** प्रातिहार्य का वर्णन है।

चँवर प्रातिहार्य

स्वामिन्! सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो,
मन्ये वदन्ति शुचयः सुरचामरौघाः।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुङ्गवाय,
ते नून मूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः॥२२॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्!) हे स्वामिन्! **(मन्ये)** मैं मानता हूँ कि **(सुदूरम्)** नीचे को बहुत दूर तक **(अवनम्य)** नम्रीभूत होकर **(समुत्पतन्तः)**

ऊपर को आते हुए **(शुचयः)** पवित्र **(सुरचामरौघाः)** देवों के चँवर-समूह **(वदन्ति)** लोगों से कह रहे हैं कि **(ये)** जो **(अस्मै मुनिपुङ्गवाय)** इन श्रेष्ठ मुनीन्द्र को **(नतिम्)** नमस्कार **(विदधते)** करते हैं, **(ते)** वे **(नूनम्)** निश्चय से **(शुद्धभावाः)** विशुद्ध परिणाम वाले होकर **(ऊर्ध्वगतयः)** ऊर्ध्वगति वाले **(खलु भवन्ति)** सचमुच हो जाते हैं अर्थात् स्वर्ग/मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

टीका—भो स्वामिन्! अहं एवं मन्ये इति सम्भावयामि। इतीति किं? शुचय उज्जवलाः। सुरचामरौघा देवानां चतुःषष्टिचामरयुग्मानि। सुदूरं अतिसमीपं। यथा स्यात्तथा अवनम्य अल्पं मस्तकोपरि निपत्य। समुत्पतन्तः सन्तः। इति वदन्ति इति भणन्ति इतीति किं? ये पुरुषा अस्मै मुनिपुंगवाय समवसरणविराजमानतीर्थङ्करश्रीपार्श्वनाथाय। नतिं नमस्कारं। विदधते कुर्वते। ते भव्याः नूनं खलु इति सत्ये। शुद्धभावाः सन्तः ऊर्ध्वगतयो भवन्ति। यथा वयं चामरौघाः अवनम्राः सन्तः ऊर्ध्वगतयस्तथा भवन्तः अपि भवन्ति। शुद्धभावः सम्यक्त्वं येषां ते।

भावार्थ—हे भगवन्! जब देवलोग आप पर चँवर ढोरते हैं तब वे चँवर पहले नीचे की ओर झुकते हैं और बाद में ऊपर को जाते हैं, सो मानों लोगों से यह कहते हैं कि भगवान् को झुककर नमस्कार करने वाले पुरुष हमारे समान ही ऊपर को जाते हैं अर्थात् स्वर्ग मोक्ष को पाते हैं। यह **'चँवर'** प्रातिहार्य का वर्णन है।

सिंहासन प्रातिहार्य

श्यामं गभीर - गिर - मुज्ज्वल - हेमरत्न-
सिंहासनस्थमिह भव्य - शिखण्डिनस्त्वाम्।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्त - मुच्चैश्-,
चामीकराद्रि-शिरसीव नवाम्बुवाहम्॥२३॥

अन्वयार्थ—(इह) इसलोक में **(श्यामम्)** श्याम वर्ण **(गभीर-गिरम्)** गम्भीर दिव्यध्वनि युक्त और **(उज्ज्वलहेमरत्नसिंहासनस्थं)** उज्ज्वल स्वर्ण से निर्मित रत्नों से जड़ित सिंहासन पर स्थित **(त्वाम्)** आपको **(भव्य-**

शिखण्डिन:) भव्यजीवरूपी मयूर **(चामीकराद्रिशिरसि)** सुवर्णमय मेरुपर्वत के शिखर पर **(उच्चै: नदन्तम्)** उच्च स्वर से गरजते हुए **(नवाम्बुवाहम् इव)** नूतन मेघ की तरह **(रभसेन)** अति उत्सुकता से **(आलोकयन्ति)** देखते हैं।

टीका—भो विभो! भव्यशिखण्डिन: भव्यलक्षणा: शिखण्डिनो मयूरा: इह लोके त्वां। रभसेन वेगेन। आलोकयन्ति। भव्या एव शिखण्डिन: भव्यशिखण्डिन:। कीदृशं त्वां? गभीरा तत्त्वार्थे अत्यन्तमगाधा धीर्यस्य स तं। पुन: कीदृशं त्वां? उज्ज्वलैर्निर्मलैर्हेमरत्नै: खचिते सिंहासने तिष्ठतीति तं। पुन: कीदृशं त्वां? चामीकराद्रिशिरसि मेरो: शृङ्गे। उच्चैर्नदन्तं नवाम्बुवाहमिव नवमेघमिवोत्प्रेक्षा। चामीकराद्रे: शिरस्तस्मिन्। नवश्चासौ अम्बुवाहश्च तम्।

भावार्थ—हे प्रभो! जिस तरह सुवर्णमय मेरुपर्वत उमड़ते-घुमड़ते हुए गर्जना करने वाले काले मेघ को देखकर मयूरों को बहुत ही आनन्द होता है उसी तरह दिव्यध्वनि करते हुए तथा सोने के सिंहासन पर विराजमान श्यामवर्ण वाले आपके दर्शन कर भव्य जीवों को अत्यन्त आनन्द होता है। उनका मन मयूर की तरह नाचने लगता है। यह **'सिंहासन'** प्रातिहार्य का वर्णन है।

भामण्डल प्रातिहार्य

उद्गच्छता तव शिति-द्युति-मण्डलेन,
लुप्तच्छदच्छवि - रशोक - तरुर्बभूव।
सान्निध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग!,
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि॥२४॥

अन्वयार्थ—**(उद्गच्छता)** स्फुरायमान **(तव)** आपके **(शितिद्युति-मण्डलेन)** श्याम प्रभामण्डल के द्वारा **(अशोकतरु:)** अशोकवृक्ष **(लुप्तच्छदच्छवि:)** कान्तिहीन पत्रों वाला **(बभूव)** हो गया **(यदि वा)** अथवा **(वीतराग!)** हे राग-द्वेष रहित देव! **(तव सान्निध्यत: अपि)** आपकी समीपता मात्र से ही **(क: सचेतन: अपि)** कौन पुरुष सचेतन भी

(नीरागताम्) राग/ ललाई से रहितपने अथवा अनुराग के अभाव को **(न व्रजति)** नहीं प्राप्त होता? अर्थात् प्राप्त होता है।

टीका—भो वीतराग! अशोकतरुः। तव भगवतः। उद्गच्छता उदीयमानेन शितिद्युतिमण्डलेन उज्ज्वलभामण्डलेन। लुप्तच्छदानां पत्राणां छविः शोभा। यस्य स एवंविधो बभूव। शिति च तद्द्युतिमण्डलं च शितिद्युतिमण्डलं तेन। यदि वा युक्तोऽयमर्थः। तव सान्निध्यतोऽपि। कः सचेतनोऽपि सुज्ञोऽपि। नीरागतां रागेच्छारहिततां न व्रजति? अपि तु व्रजतीत्याशयः। चेतनेन सह वर्तमानः सचेतनः।

भावार्थ—हे भगवन्! आपकी श्यामल कान्ति के संसर्ग से अशोक वृक्ष की लालिमा दब गई सो ठीक ही है, वीतराग (ललाई रहित, दूसरे पक्ष में स्नेहरहित) के सामीप्य से कौन सचेतन-प्राणी वीतराग (ललाई रहित, दूसरे पक्ष में स्नेह रहित) नहीं हो जाता? अर्थात् सभी हो जाते हैं। इस श्लोक में रागपद दो अर्थ वाला है—अनुराग-प्रेम-स्नेह और दूसरा लालिमा-ललाई। यह '**भामण्डल**' प्रातिहार्य का वर्णन है।

दुन्दुभि प्रातिहार्य

भो भोः प्रमाद-मवधूय भजध्वमेन-,
मागत्य निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम्।
एतन् निवेदयति देव! जगत्त्रयाय,
मन्ये नदन्नभिनभः सुर दुन्दुभिस्ते॥२५॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे देव! **(मन्ये)** मैं समझता हूँ कि **(अभिनभः)** आकाश में सब ओर **(नदन्)** शब्द करती हुई **(ते)** आपकी **(सुर दुन्दुभिः)** देवों के द्वारा बजाई गई दुन्दुभि **(जगत्त्रयाय)** तीन लोकों के जीवों को **(एतत् निवेदयति)** यह सूचित करती है कि **(भोः भोः)** रे प्राणियों! **(प्रमादम् अवधूय)** प्रमाद को छोड़कर **(निर्वृतिपुरीम् प्रति सार्थवाहम्)** मोक्षपुरी को जाने में अगुवा **(एनं)** इन पार्श्वनाथ भगवान् को **(आगत्य)** आकर **(भजध्वम्)** भजो/सेवा करो।

टीका—भो देव! अहं एवं मन्ये एवं सम्भावयामि। ते तव। सुरदुन्दुभिः

देवपटहः। अभिनभः नभः समन्तात्। नदन्। जगत्त्रयाय त्रैलोक्याय एतन्निवेदयति। सुराणां दुन्दुभिः सुरदुन्दुभिः। एतत् किं? भो भो जनाः प्रमादं अवधूय आलस्यं परित्यज्य। आगत्य समेत्य। एवं श्रीपार्श्वनाथं। भजध्वं सेवध्वं। कथंभूतं एवं? निवृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम्।

भावार्थ—हे प्रभो! आकाश में जो देवों का नगाड़ा बज रहा है वह मानों तीन लोक के जीवों को चिल्ला-चिल्ला कर सचेत कर रहा है कि जो मोक्षनगरी की यात्रा के लिए जाना चाहते हैं वे प्रमाद छोड़कर भगवान् पार्श्वनाथ की सेवा करें। यह '**दुन्दुभि**' प्रातिहार्य का वर्णन है।

छत्रत्रय प्रातिहार्य

उद्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ!
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः।
मुक्ता - कलाप - कलितोल्लसितातपत्र-,
व्याजात्त्रिधा धृततनुर्ध्रुवमभ्युपेतः॥२६॥

अन्वयार्थ—**(नाथ!)** हे नाथ! **(भवता भुवनेषु उद्योतितेषु 'सत्सु')** आपके द्वारा तीनों लोकों के प्रकाशित होने पर **(विहताधिकारः)** अपने अधिकार से भ्रष्ट तथा **(मुक्ताकलाप-कलितोल्लसितातपत्र-व्याजात्)** मोतियों के समूह से सहित अतएव शोभायमान सफेद छत्र के छल से **(तारान्वितः)** ताराओं से वेष्टित **(अयम् विधुः)** यह चन्द्रमा **(त्रिधा धृततनुः)** तीन-तीन शरीर धारण कर **(ध्रुवम्)** निश्चय से **(त्वाम् अभ्युपेतः)** आपकी सेवाओं में प्राप्त हुआ है।

टीका—भो नाथ! अयं तारान्वितो नक्षत्रग्रहतारकान्वितो विधुश्चन्द्रः ध्रुवं निश्चितं। अभ्युपेतः समेतः केषु सत्सु। भवता परमेश्वरेण। भुवनेषु त्रैलोक्येषु। उद्योतितेषु सत्सु। कथंभूतोऽयं? विहतः अधिकारो येन सः। पुनः कथंभूतोऽयं? मुक्तानां कलापः समूहस्तेन कलितं सहितं उल्लसितं शोभायमानं च तत् आतपत्रं च तस्य व्याजं मिषं। तस्मात् त्रिधा धृततनुः शरीरं येन सः।

भावार्थ—हे प्रभो! जब आपने अपनी कांति वा ज्ञान से तीनों लोकों

को प्रकाशित कर दिया तब मानों चन्द्रमा का प्रकाश करने रूप अधिकार छीन लिया गया। इसलिए वह तीन छत्र का वेष धरकर आपकी सेवा में अपना अधिकार वापस चाहने के लिए उपस्थित हुआ है। छत्रों में जो मोती लगे हुए हैं वे मानों चन्द्रमा के परिवारस्वरूप तारागण हैं। यह '**छत्रत्रय**' प्रातिहार्य का वर्णन है।

समवसरण में तीन प्रकोट

स्वेन प्रपूरित - जगत्त्रयपिण्डितेन,
कान्ति - प्रताप-यशसामिव सञ्चयेन।
माणिक्य हेम-रजत - प्रविनिर्मितेन,
सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि॥२७॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन्! आप **(अभित:)** चहुँ ओर **(प्रपूरित-जगत्त्रय-पिण्डितेन)** भरे हुए तीनों जगत् के पिण्ड अवस्था को प्राप्त **(स्वेन कान्ति-प्रताप-यशसाम् सञ्चयेन इव)** अपने कान्ति, प्रताप और यश के समूह के समान **(माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन)** माणिक्य, सुवर्ण और चाँदी से बने हुए **(सालत्रयेण)** तीनों कोटों से **(विभासि)** शोभायमान होते हैं।

टीका—भो भगवन्! शालत्रयेण प्राकारत्रयेण। त्वं अभित: समन्तात्। विभासि शोभसे। कथम्भूतेन सालत्रयेण? माणिक्यानि च हेमानि च रजतानि च माणिक्यहेमरजतानि तै: निर्मितं तेन। केनेव कान्तिप्रतापयशसां संचयेनेव? यथा स्वेन कान्तिप्रतापयशसां सञ्चयेन त्वं विभासि। कान्तिश्च प्रतापश्च यशश्च कान्तिप्रतापयशान्सि तेषां। कथम्भूतेन संचयेन? प्रपूरितं च जगत्त्रयं च प्रपूरितजगत्त्रयं प्रपूरित जगत्त्रयेण पिण्डित: एकीभूतस्तेन। इति तात्पर्यार्थ:।

भावार्थ—हे भगवन्! समवसरण भूमि में जो आपके चारों ओर माणिक्य सुवर्ण और चाँदी के बने हुए तीन कोट हैं वे मानों आपकी कांति प्रताप और यश का वह समूह है जो कि तीनों जगत् में फैला हुआ है।

इन्द्रों द्वारा वन्दनीय

दिव्यस्रजो जिन! नमत्त्रिदशाधि पाना-
मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान्।

पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वा परत्र,
त्वत्सङ्गमे सुमनसो न रमन्त एव॥२८॥

अन्वयार्थ–(जिन!) हे जिनेन्द्र! **(दिव्यस्रजः)** दिव्य पुष्पों की मालाएँ **(नमत् त्रिदशाधिपानाम्)** नमस्कार करते हुए इन्द्रों के **(रत्नरचितान् अपि मौलिबन्धान्)** रत्नों से बने हुए मुकुटों के बंधनों को भी **(उत्सृज्य)** छोड़कर **(भवतः पादौ श्रयन्ति)** आपके चरणों का आश्रय लेती हैं **(यदि वा)** अथवा ठीक है कि **(त्वत्सङ्गमे 'सति')** आपका समागम होने पर **(सुमनसः)** पुष्प मालाएँ या उत्तम हृदय वाले मनुष्य **(परत्र)** किसी दूसरी जगह **(न एव रमन्ते)** नहीं रमण करते हैं।

टीका–भो जिन! दिव्यस्रजः मनोज्ञपुष्पमालाः। नमत्रिदशाधिपानां प्रणमत्रिदशेन्द्राणां। रत्नरचितानपि मौलिबन्धान् रत्नखचितान् किरीटान्। उत्सृज्य। भवतः परमेश्वरस्य। पादौ श्रयन्ति। नमन्तश्च ते त्रिदशाधिपाश्च तेषां। रत्नैः रचितास्तान्। मौलिनां बन्धाः मौलिबन्धास्तान्। यदि वा युक्तोऽयमर्थः। सुमनसः प्राणिनः। त्वत्सङ्गमे त्वत्समीपे। सति परत्र अन्यत्र। न रमन्त एव। इति स्थूलार्थः।

भावार्थ–श्लोक में आये हुए सुमनस् शब्द के दो अर्थ हैं–एक पुष्प और दूसरा विद्वान् पुरुष। हे भगवन्! नमस्कार करते समय देवों के मुकुटों में लगी हुई फूलों की मालाएँ जो आपके चरणों में गिर जाती हैं सो मानों वे पुष्पमालाएँ आपसे इतना अधिक प्रेम करती हैं कि उनके पीछे देवों के रत्नों से बने हुए मुकुटों को भी छोड़ देती हैं। सुमनस=फूलों का (दूसरे पक्ष में–विद्वानों का) आप में अगाध प्रेम होना उचित ही है। श्लोक का तात्पर्य यह है कि आपके लिए बड़े इन्द्र भी नमस्कार करते हैं।

संसार समुद्र तारक विभु

त्वं नाथ! जन्मजलधेर्विपराङ्मुखोऽपि,
यत्तारयस्यसुमतो निजपृष्ठलग्नान्।
युक्तं हि पार्थिवनृपस्य सतस्तवैव,
चित्रं विभो! यदसि कर्मविपाकशून्यः॥२९॥

अन्वयार्थ—(नाथ!) हे नाथ! **(त्वम्)** आप **(जन्म-जलधेः)** संसाररूप समुद्र से **(विपराङ्मुखः अपि सन्)** पराङ्मुख होते हुए भी **(यत्)** जो **(निज-पृष्ठलग्नान्)** अपने पीछे लगे हुए अनुयायी **(असुमतः)** जीवों को **(तारयसि)** तार देते हो **('तत्')** वह **(पार्थिवनृपस्य सतः)** राजाधिराज अथवा मिट्टी के पके हुए घड़े की तरह परिणमन करने वाले **(तव)** आपको **(युक्तम् एव)** उचित ही है, परन्तु **(विभो)** हे प्रभो! **(तत् चित्रम्)** वह आश्चर्य की बात है **(यत्)** जो आप **(कर्मविपाकशून्यः असि)** कर्मों के उदयरूप पाक क्रिया से रहित हो।

टीका—भो नाथ! त्वं जन्मजलधेः भवसमुद्रात् विपराङ्मुखोपि सन् निजपृष्ठलग्नान् असुमतः प्राणिनः यत्तारयसि हि निश्चितं तवैव सतो विद्यमानस्य पार्थिवनृपस्य राजाधिराजस्य त्रिजगत्स्वामिनः युक्तं। हे विभो! यत्कर्मविपाक-शून्योऽसि तच्चित्रं। यः कोऽपि तारयति स फलं वाञ्छति तव क्वाऽपि वाञ्छा न। अथवा यः कोऽपि कार्यं किमपि करोति तस्य शुभाशुभकर्मबन्धो भवति तव सोऽपि नास्तीति चित्रं महदाश्चर्यं। पार्थिवनृपस्य घटस्य जलधेः विपराङ्-मुखतारकत्वं युक्तं तस्य घटस्य कर्मविपाकशून्यता नास्ति। स तु घटः कर्मविपाकसहितः। जन्मैव जलधिस्तस्मात्। निजपृष्ठ-लग्नांस्तान्। पार्थिवानां नृपः स्वामी तस्य। घटपक्षे पृथिव्यां अयं पार्थिवः। नॄन् मनुष्यान्। जलदानेन पातीति नृपः। पार्थिवश्चासौ नृपश्च पार्थिवनृपस्तस्य। कर्मणां बन्धः अष्टकर्मणां विपाक उदयस्तेन शून्यः। घटपक्षे कर्मवद्विपाकः पचनं तेन शून्यो न। अत्र श्लेषालङ्कारः।

भावार्थ—जिस तरह घड़ा पानी में अधोमुख होकर अपनी पीठ पर स्थित लोगों को नदी आदि से पार कर देता है, उसी तरह आप यद्यपि राग न होने से संसार-समुद्र से पराङ्मुख रहते हैं तथापि अपने अनुयायियों को उससे पार लगा देते हैं-मोक्ष प्राप्त करा देते हैं। पर जब घड़ा अग्नि से पकाया हुआ हो तभी पानी में तैर कर दूसरों को पार करता है। कच्चा घड़ा पानी में गल कर घुल जाता है, किन्तु आप पाक रहित हो यह आश्चर्य की बात है। उसका परिहार यह है कि आप कर्मों के उदय से रहित हैं। श्लोक में आये हुए विपाक शब्द के दो अर्थ हैं—अग्नि से किसी कोमल मिट्टी की

वस्तु का कठोर होना और कर्मों का उदय आना।

विरोधाभास गुण स्तुति

विश्वेश्वरोऽपि जनपालक! दुर्गतस्त्वम्,
किं वाक्षरप्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश!।
अज्ञान - वत्यपि सदैव कथञ्चिदेव,
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकासहेतुः॥३०॥

अन्वयार्थ—(जनपालक!) हे जीवों के रक्षक! **(त्वम्)** आप **(विश्वेश्वरः अपि दुर्गतः)** तीन लोक के स्वामी होकर भी दरिद्र हैं, **(किं वा)** और **(अक्षरप्रकृतिः अपि त्वम् अलिपिः)** अक्षरस्वभाव होकर भी लेखन क्रिया से रहित हैं **(ईश!)** हे स्वामिन्! **(कथञ्चित्)** किसी प्रकार से **(अज्ञानवति अपि त्वयि)** अज्ञानवान् होने पर भी आपमें **(विश्व-विकासहेतुः ज्ञानम् सदा एव स्फुरति)** सब पदार्थों को प्रकाशित करने वाला ज्ञान हमेशा स्फुरायमान रहता है।

टीका—जनान्पालयतीति जनपालकः तस्यामन्त्रणे हे जनपालक! त्वं विश्वेश्वरोऽपि त्रैलोक्यनाथोऽपि सन् दुर्गतः किं दरिद्रः कथमिति विरोधः शब्दतः। द्रष्टुं ज्ञातुमशक्यं गतं यस्य सः। वा अथवा भो ईश! भो विभो! त्वं अक्षरप्रकृतिरपि वर्णस्वरोऽपि अलिपिः कथं। अक्षरा अविनश्वरा प्रकृतिः स्वभावो यस्य सः। न विद्यते लिपिर्मोहो यस्य सः। यः अक्षरः प्रकृति क्षरतीति क्षरः न क्षरतीति अक्षरः सो लिपिर्न भवति। इति शब्दतो विरोधः नार्थतः। भो जिन! त्वयि सदैव अज्ञानवत्यपि सति ज्ञानरहितेऽपि सति कथञ्चिदेव विश्वविकासहेतुज्ञानं स्फुरति। योऽज्ञानवांस्तस्मिन् ज्ञानं क्वेति शब्दतो विरोधः नार्थतः। अज्ञानप्राणिनोऽवतीति तस्मिन्। विश्वेषां विकाशः प्रकटीकरणं तस्य हेतुर्निदानं।

भावार्थ—इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार है। विरोधाभास अलंकार में शब्द के सुनते समय तो विरोध मालूम होता है पर अर्थ विचारने पर बाद में उसका परिहार हो जाता है। जहाँ इस अलंकार का मूल श्लेष होता है वहाँ बहुत ही अधिक चमत्कार पैदा हो जाता है।

देखिये-भगवन्! आप विश्वेश्वर होकर भी दुर्गत हैं। यह पूरा विरोध है। भला, जो (जगत् का ईश्वर है वह दरिद्र कैसे हो सक्ता है? विश्वेश्वर होकर भी दुर्गत=कठिनाई से जाने जा सकते हैं। इसी तरह आप अक्षर प्रकृति-अक्षर स्वभाव वाले होकर भी अलिपि लिखे नहीं जा सकते यह विरोध है। जो क ख आदि अक्षरों जैसा है वह लिखा क्यों न जायेगा?) परन्तु दोनों शब्दों का श्लेष विरोध को दूर कर देता है। आप अक्षर प्रकृति-अविनश्वर स्वभाववाले होकर भी अलिपि=आकार रहित हैं-निराकार हैं। इसी प्रकार **अज्ञानवति अपि** अज्ञान युक्त होने पर भी आपमें **विश्वविकाशि ज्ञानं स्फुरति** संसार के सब पदार्थों को जानने वाला ज्ञान स्फुरायमान होता है, यह विरोध है। जो अज्ञानयुक्त है उसमें पदार्थों का ज्ञान कैसा? पर इसका भी नीचे लिखे अनुसार परिहार हो जाता है-**अज्ञान अवति अपि त्वयि**-अज्ञानी मनुष्यों की रक्षा करने वाले आप में हमेशा केवलज्ञान जगमगाता रहता है।

उपसर्ग विजेता पार्श्वनाथ

प्राग्भार-सम्भृत-नभांसि रजांसि रोषा-,
दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।
छायापि तैस्तव न नाथ! हता हताशो,
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा॥३१॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन्! **(शठेन कमठेन)** दुष्ट कमठ के द्वारा **(रोषात्)** क्रोध से **(प्राग्भार-सम्भृतनभांसि)** सम्पूर्णरूप से आकाश को व्याप्त करने वाली **(यानि)** जो **(रजांसि)** धूल **(उत्थापितानि)** आपके ऊपर उड़ाई गई थी **(तैः तु)** उससे तो **(तव)** आपकी **(छाया अपि)** छाया भी **(न हता)** नहीं नष्ट हुई थी **(परम्)** किन्तु **(अयमेव दुरात्मा)** यही दुष्ट **(हताशः)** हताश हो **(अमीभिः)** इन कर्मरूप रजों से **(ग्रस्तः)** जकड़ा गया था।

टीका—भो नाथ! शठेन मूर्खेण। कमठेनेति कमठचरसंवरनाम ज्योतिष्कदेवेन। रोषात् पूर्वोपार्जितवैरात्। यानि रजांसि उत्थापितानि तैः। स्वरजोभिः तव भगवतश्च्छायापि प्रतिबिम्बमपि न हतं न स्पृष्टं। अपि तु परं

केवलं अमीभिः अयमेव पापीयान् कमठ एव ग्रस्तः मलिनीकृतः। कथंभूतोऽयं? हता आशा यस्य स हताशः। प्राग्भारेण सामस्त्येन सम्भृतं व्याप्तं नभो यैस्तानि।

भावार्थ—जब भगवान् पार्श्वनाथ तपस्या कर रहे थे तब उनके पूर्वभव के वैरी कमठ के जीव ने उन पर धूल उड़ाकर भारी उपसर्ग किया था। लोक में यह देखा जाता है कि जो सूर्य पर धूल फेंकता है उससे सूर्य की जरा भी कान्ति नष्ट नहीं होती, पर वही धूली फेंकने वाले के ऊपर गिरती है। श्लोक में आये हुए रज शब्द के दो अर्थ हैं-एक धूलि, दूसरा कर्म। कमठ के जीव ने भगवान् पर उपसर्ग कर कर्मों का बन्ध किया था इस बात को कवि ने लोक-प्रचलित उक्त उदाहरण से स्पष्ट किया है।

जलवृष्टि उपसर्ग

यद्गर्जदूर्जित - घनौघ - मदभ्रभीम्,
भ्रश्यत्तडिन्मुसल - मांसल - घोरधारम्॥
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे,
तेनैव तस्य जिन! दुस्तरवारिकृत्यम्॥३२॥

अन्वयार्थ—(अथ) और **(जिन!)** हे जिनेश्वर! **(दैत्येन)** उस कमठ ने **(गर्जदूर्जितघनौघम्)** खूब गरज रहे हैं बलिष्ठ-मेघ-समूह जिसमें **(भ्रश्यत्-तडित्)** गिर रही है बिजली जिसमें और **(मुसलमांसल-घोर-धारम्)** मूसल के समान बड़ी मोटी है धारा जिसमें ऐसा तथा **(अदभ्रभीमम्)** अत्यन्त भयंकर **(यत्)** जो **(दुस्तर-वारि)** अथाह जल **(मुक्तम्)** वर्षाया था, **(तेन)** उस जलवृष्टि से **(तस्य एव)** उस कमठ ने ही अपने लिए **(दुस्तरवारिकृत्यम् दध्रे)** तीक्ष्ण तलवार के कार्य को धारण किया अर्थात् उससे वह कमठ स्वयं ही घायल हो गया।

टीका—भो जिन! यत् दैत्येन कमठदानवेन दुस्तरवारि दुर्द्धरपानीयं मुक्त भवान् दध्रे। अथ पुनस्तस्य कमठस्य तेनैव पानीयेन दुस्तरवारिकृत्यं जातं। दुस्तरं दुस्सहं यत् दुस्तरवारि दुष्ठु यो हि तरवारिश्चञ्चत्खड्गस्-तद्वत्कृत्यं यस्य तत् एवंविधं समजनि। कथंभूतं दुस्तरवारि? गर्जिता ऊर्जिता

महत्तरा ये घना मेघास्तेषां ओघा यस्मिंस्तत्। मुसलवन्मांसलाः स्थूला घोरां भयदा धारा यस्मिंस्तत्।

भावार्थ—हे भगवन्! आप पर मूसलधार पानी वर्षाकर कमठ के जीव ने जो उपसर्ग किया था उससे आपका क्या बिगड़ा? परंतु उसी ने अपने लिए '**दुस्तरवारिकृत्यं**' दुष्ट तलवार का कार्य अर्थात् घाव कर लिया–ऐसे कर्मों का बन्ध किया जो तलवार के घाव के समान दुःखदायी हुए थे। श्लोक में '**दुस्तरवारि**' शब्द दो वार आया है उनमें से पहले का अर्थ कठिनाई से तरने योग्य जल है और दूसरे का अर्थ दुष्ट तरवारि–तलवार है।

भूत पिशाचों के द्वारा उपसर्ग

ध्वस्तोर्ध्व-केश-विकृताकृति - मर्त्य-मुण्ड-
प्रालम्बभृद्भयद - वक्त्र - विनिर्यदग्निः।
प्रेतव्रजः प्रति भवन्तमपीरितो यः,
सोऽस्याभवत्प्रतिभवं भवदुःखहेतुः॥३३॥

अन्वयार्थ—**(ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतिमर्त्यमुण्ड-प्रालम्बभृद्)** मुंडे हुए तथा विकृत आकृति वाले नर कपालों की माला को धारण करने वाला और **(भयद-वक्त्रविनिर्यदग्निः)** जिसके भयंकर मुख से अग्नि निकल रही है, ऐसा **(यः)** जो **(प्रेतव्रजः)** पिशाचों का समूह **(भवन्तम् प्रति)** आपके प्रति **(ईरितः)** प्रेरित किया गया था–दौड़ाया गया था **(सः)** वह **(अस्य)** उस असुर को **(प्रतिभवम्)** प्रत्येक भव में **(भव-दुःखहेतुः)** संसार के दुःखों का कारण **(अभवत्)** हुआ था।

टीका—भो परमेश्वर! यः प्रेतव्रजो भूतसमूहः भवन्तं श्रीमन्त प्रत्यपि। ईरितः प्रेरितः। स प्रेतव्रजः। अस्य कमठस्य। प्रतिभवं भवं प्रति। भवस्य संसारस्य। दुःखानां हेतुः। अभूत् बभूव। प्रेतानां व्रजः प्रेतव्रजः। ध्वस्ता विस्तारिता ये ऊर्ध्वकेशास्तैर्विकृता विकारिण्य आकृतयो येषां ते ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतय एवं विधा ये मर्त्यास्तेषां मुण्डानि कपालानि तेषां प्रालम्बमालां बिभर्तीति। पुनः कथं प्रेतव्रजः? भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः भयदायि यद्वक्त्रं तस्माद्वि-निर्यन्त निःसरन्तोऽग्नयो यस्य सः।

भावार्थ—हे भगवन्! कमठ के जीव ने आपको तपस्या से विचलित करने के लिए जो पिशाच दौड़ाये थे उनसे आपका कुछ भी बिगाड़ नहीं हुआ परंतु उस पिशाच को ही भारी कर्म-बंध हुआ जिससे उसे अनेक भवों में दु:ख उठाने पड़े।

प्रभु भक्त धन्यवाद का पात्र

धन्यास्त एव भुवनाधिप! ये त्रिसन्ध्य-
माराधयन्ति विधिवद् विधुतान्य-कृत्या:।
भक्त्योल्लसत्पुलक - पक्ष्मल - देह - देशा:,
पादद्वयं तव विभो! भुवि जन्मभाज:॥३४॥

अन्वयार्थ—(भुवनाधिप!) हे त्रिलोकीनाथ! **(ये)** जो **(जन्म-भाज:)** प्राणी, **(विधुतान्यकृत्या:)** जिन्होंने अन्य काम छोड़ दिए हैं और **(भक्त्या)** भक्ति से **(उल्लसत्-पुलक-पक्ष्मल-देहदेशा: 'सन्त:')** प्रकट हुए रोमाञ्चों से जिनके शरीर का प्रत्येक अवयव व्याप्त है, ऐसे होते हुए **(विधिवत्)** विधिपूर्वक **(त्रिसन्ध्यम्)** तीनों कालों में **(तव)** आपके **(पादद्वयम् आराधयन्ति)** चरणयुगल की आराधना करते हैं **(विभो!)** हे स्वामिन्! **(भुवि)** संसार में **(ते एव)** वे ही **(धन्या:)** धन्य हैं।

टीका—भो भुवनाधिप! भो विभो! भुवि पृथिव्यां। त एव जन्मभाजो धन्या: पुण्यवन्त: ते के? ये जन्मभाज: प्राणिन:। त्रिसन्ध्यं त्रिकालं। भक्त्या श्रद्धया। तव विभो। पादद्वयं चरणकमलं। विधिवत् विध्युक्तप्रकारेण। आराधयन्ति निषेवन्ते। कीदृशास्ते? विधूतानि स्फेटितानि अन्यानि कृत्यानि। यैस्ते। पुनरुल्लसन्तश्च ते पुलकाश्च तै: पक्ष्मला: कलङ्किता व्याप्ता वा देहस्य शरीरस्य प्रदेशा येषां ते।

भावार्थ—हे भगवन्! संसार में उन्हीं का जन्म सफल है जो भक्तिपूर्वक आपके चरणों की आराधना करते हैं।

प्रभु नाम श्रवण से विपदा मुक्ति

अस्मिन्नपार - भव - वारि - निधौ मुनीश!,
मन्ये न मे श्रवण - गोचरतां गतोऽसि।

आकर्णिते तु तव गोत्र - पवित्र - मन्त्रे,
किं वा विपद्-विषधरी सविधं समेति॥३५॥

अन्वयार्थ—(मुनीश!) हे मुनीन्द्र! **(मन्ये)** मैं समझता हूँ कि **(अस्मिन् अपारभव- वारिनिधौ)** इस अपार संसाररूप समुद्र में कभी भी आप **(मे)** मेरे **(श्रवणगोचरतां न गतः असि)** कानों की विषयता को प्राप्त नहीं हुए हो क्योंकि **(तु)** निश्चय से **(तव गोत्रपवित्रमन्त्रे आकर्णिते 'सति')** आपके नामरूपी पवित्र मन्त्र के सुने जाने पर **(विपद्-विषधरी)** विपत्तिरूपी नागिन **(किम् वा)** क्या **(सविधम्)** समीप **(समेति)** आती है? अर्थात् नहीं।

टीका—भो मुनीश! अहमेवं मन्ये इति सम्भावयामि। इतीति किं? अस्मिन् प्रत्यक्षगोचरीभूते। अपारवारिनिधौ अगाधसंसारसमुद्रे। मे मम। श्रवणगोचरतां कर्णयमलप्रत्यक्षभावं। त्वं न गतोऽसि न प्राप्तोऽसि। अपारो अगाधो यो भव एव वारिनिधिस्तस्मिन्। श्रवणयोः कर्णयोः गोचरता प्रत्यक्षभावता तां। वा अथवा। तव भगवतो गोत्रपवित्रमन्त्रे तव भगवतः पावनमन्त्रे। आकर्णितेऽपि सति। विपद्विषधरी आपदभुजङ्गी। किं सविधं समीपं। समेति आगच्छति? अपि तु न समेतीत्यर्थः। गोत्रं नाम तल्लक्षणो यः पवित्रमन्त्रस्तस्मिन्। विपदेव विषधरी सर्पिणी विपद्विषधरी।

भावार्थ—हे प्रभो! जो मैं संसार में अनेक दुःख उठा रहा हूँ उससे विश्वास होता है कि मैंने कभी भी आपका पवित्र नाम नहीं सुना।

प्रभुपद पूजे बिन मिले विपद

जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव!,
मन्ये मया महितमीहित - दान - दक्षम्।
तेनेह जन्मनि मुनीश! पराभवानां,
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम्॥३६॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे देव! **(मन्ये)** मैं मानता हूँ कि मैंने **(जन्मान्तरे अपि)** दूसरे जन्म में भी **(ईहितदानदक्षम्)** मनोवांछित फल देने में समर्थ **(तव पादयुगम्)** आपके चरणयुगल **(न महितम्)** नहीं पूजे, **(तेन)** उसी

से **(इह जन्मनि)** इस भव में **(मुनीश!)** हे मुनीश! **(अहम्)** मैं **(मथिताशयानाम्)** हृदयभेदी-मनोरथों को नष्ट करने वाले **(पराभवानाम्)** तिरस्कारों का **(निकेतनम्)** घर **(जातः)** हुआ हूँ।

टीका—हे देव! अहमेवं मन्ये मया जन्मान्तरेऽपि एकस्मिन् जन्मन्यपि। तवार्हतं। पादयुगं चरणद्वन्द्वं। न महितं न पूजितमित्यर्थः। एकस्मा-ज्जन्मनोऽन्यज्जन्म जन्मान्तरं तस्मिन्। कीदृशं पादयुगं? ईहितं अभिलषितं तस्य दानं प्रदानं तत्र दक्षं। भो मुनीश! तेन कारणेन भवच्चरणापूजनहेतुना इह जन्मनि इह भवान्तरेऽपि। अहं पराभवानां आपदां। पात्रं स्थानं। जातोस्मि अभूवं। कथंभूतानां पराभवानां? मथितः विलोडितः आशयश्चित्तं यैस्ते तेषाम्।

भावार्थ—हे भगवन्! जो मैं तरह तरह के तिरस्कारों का पात्र हो रहा हूँ उससे स्पष्ट पता चलता है कि मैंने आपके चरणों की पूजा नहीं की। क्योंकि आपके चरणों के पुजारियों का कभी किसी जगह भी तिरस्कार नहीं होता।

दर्शन बिन दुःख पाये

नूनं न मोह - तिमिरावृतलोचनेन,
पूर्वं विभो! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः,
प्रोद्यत्प्रबन्ध - गतयः कथमन्यथैते॥३७॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन्! **(मोहतिमिरावृतलोचनेन)** मोहरूपी अन्धकार से आच्छादित हैं नेत्र जिसके ऐसे **(मया)** मेरे द्वारा आप **(पूर्वम्)** पहले कभी **(सकृद् अपि)** एक बार भी **(नूनम्)** निश्चय से **(प्रविलोकितः न असि)** अच्छी तरह अवलोकित नहीं हुए हो अर्थात् मैंने आपके दर्शन नहीं किए **(अन्यथा हि)** नहीं तो जो **(प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः)** जिनमें कर्मबन्ध की गति बढ़ रही है ऐसे **(एते)** ये **(मर्माविधः)** मर्मभेदी **(अनर्थाः)** अनर्थ **(माम्)** मुझे **(कथम्)** क्यों **(विधुरयन्ति)** दुःखी करते?

टीका—भो विभो। नूनं निश्चितं। मोह एव तिमिराणि अन्धकाराणि

तैरावृते उज्झम्पिते छादिते लोचने यस्य स तेनैवं विधेन मया। पूर्वं प्रागेव। सकृदपि एकवारमपि। त्वं न प्रविलोकितोऽसि नयनगोचरीभावं न गतोऽसि। हि युक्तोऽयमर्थः। अन्यथा चेत् त्वं मम नयनगोचरीभावं गतश्चेत्। एते अनर्थाः जन्ममृत्युजरादयः मां कथं विधुरयन्ति पीडयन्ति? कथम्भूता अनर्थाः? प्रोद्यन्त्य उदीयमानाः प्रबन्धानां कर्मबन्धानां गतयो येषु ते। पुनः कथम्भूता? मर्माविधो मर्मभेदकाः।

भावार्थ—भगवन्! मैंने मिथ्यात्व के उदय से अन्धे होकर कभी भी आपके दर्शन नहीं किये। यदि दर्शन किये होते तो आज ये दुःख मुझे दुःखी कैसे करते? क्योंकि आपके दर्शन करने वालों को कभी कोई भी अनर्थ दुःख नहीं पहुँचा सकते।

भाव शून्य करनी फलदायक नहीं

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षतोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव! दुःखपात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥३८॥

अन्वयार्थ—अथवा **(जनबान्धव!)** हे जगत् बन्धु! **(मया)** मेरे द्वारा आप **(आकर्णितः अपि)** सुने हुए भी हैं **(महितः अपि)** पूजित भी हुए हैं और **(निरीक्षितः अपि)** अवलोकित भी हुए हैं अर्थात् मैंने आपका नाम भी सुना है, पूजा भी की है और दर्शन भी किए हैं, फिर भी **(नूनम्)** निश्चय है कि **(भक्त्या)** भक्तिपूर्वक **(चेतसि)** चित्त में **(न विधृतः असि)** धारण नहीं किए गए हो **(तेन)** उसी से मैं **(दुःखपात्रम् जातः अस्मि)** दुःखों का पात्र हो रहा हूँ **(यस्मात्)** क्योंकि **(भावशून्याः)** भाव रहित **(क्रियाः)** क्रियाएँ **(न प्रतिफलन्ति)** सफल नहीं होतीं।

टीका—भो विभो! मया अज्ञानिना। त्वं आकर्णितोऽपि समवसरण-लक्ष्मीविराजमान एवं श्रुतोपि। एवंविधस्त्वं महितोऽपि पूजितोऽपि। एवंविधस्त्वं। निरीक्षितोऽपि। नूनं निश्चितं। चेतसि मनसि। भक्त्या सम्यक्त्वपूर्वकं। न विधृतोऽसि। हे जनानां बान्धव! तेनैव हेतुना अहं।

दुःखानां पात्रं जातोऽस्मि सर्वदुःखस्थानं अभूवं। यस्मात्कारणद्भावशून्याः सम्यक्त्वरहिताः क्रियाः न प्रतिफलन्ति। भावेन शून्या भावशून्याः।

भावार्थ—इससे पहले तीन श्लोकों में कहा गया था कि हे भगवन्! मैंने ''आपका नाम नहीं सुना'' ''चरणों की पूजा नहीं की'' और ''दर्शन नहीं किये'' इसलिए मैं दुःख उठा रहा हूँ। अब इस श्लोक में पक्षान्तर रूपसे कहते हैं कि मैंने आपका नाम भी सुना, पूजा भी की और दर्शन भी किये, फिर भी दुःख मेरा पिण्ड नहीं छोड़ते उसका कारण सिर्फ यही मालूम होता है कि मैंने भक्तिपूर्वक आपका ध्यान नहीं किया। केवल आडम्बर रूप से ही उन कामों को किया है न कि भावपूर्वक भी। यदि भाव से करता तो कभी दुःख नहीं उठाने पड़ते।

दुःख नाशक प्रार्थना

त्वं नाथ! दुःखि-जन-वत्सल! हे शरण्य!
कारुण्य-पुण्य-वसते! वशिनां वरेण्य!।
भक्त्या नते मयि महेश! दयां विधाय,
दुःखाङ्कुरोद्दलन-तत्परतां विधेहि॥३९॥

अन्वयार्थ—**(नाथ!)** हे नाथ! **(दुःखिजनवत्सल!)** दुखियों पर प्रेम करने वाले! **(हे शरण्य!)** हे शरणागत प्रतिपालक! **(कारुण्य-पुण्यवसते!)** हे दया की पवित्र भूमि! **(वशिनाम् वरेण्य!)** हे जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ! और **(महेश!)** हे महेश्वर! **(भक्त्या)** भक्ति में **(नते मयि)** नम्रीभूत मुझ पर **(दयाम् विधाय)** दया करके **(दुःखाङ्कुरोद्दलन-तत्परताम्)** मेरे दुःखाङ्कुर के नाश करने में तत्परता/ तल्लीनता **(विधेहि)** कीजिए।

टीका—भो शरण्य शरणाय अर्हं! भो नाथ! भो दुःखिजनानां वत्सल बांधव। भो कारुण्यपुण्यवसते! हे वशिनां वरेण्य! हे यतीनां श्रेष्ठ! हे महेश! मयि विषये। दयां कृपां। विधाय। दुःखानां अंकुरास्तेषां उद्दलनं निराकरणं तत्र तत्परस्तस्य भावस्तां विधेहि कुरु। कथंभूते मयि? भक्त्या नते नम्रीभूते। भो नाथ! हे पार्श्वनाथ! हे जन बान्धव! मम दुःखानि निवारय मोक्षं देहीति तात्पर्यार्थः।

भावार्थ—आप शरणागत प्रतिपालक है, दयालु हैं और समर्थ भी हैं। इसलिए आपसे विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे दु:खों को दूर करने के लिए तत्पर होइये।

प्रभु चिन्तन बिन जीवन निस्सार

निःसंख्य - सार - शरणं शरणं शरण्य-,
मासाद्य सादित - रिपुः प्रथिता वदानम्!
त्वत्पाद - पङ्कजमपि प्रणिधान - वन्ध्यो,
वन्ध्योऽस्मि चेद्भुवन-पावन! हा हतोऽस्मि॥४०॥

अन्वयार्थ—(भुवनपावन!) हे संसार को पवित्र करने वाले भगवन्! **(नि:संख्य-सारशरणम्)** असंख्यात श्रेष्ठ पदार्थों के घर की **(शरणम्)** रक्षा करने वाले **(शरण्यम्)** शरणागत प्रतिपालक और **(सादितरिपु प्रथिता-वदानम्)** कर्म-शत्रुओं के नाश से प्रसिद्ध है पराक्रम जिनका ऐसे **(त्वत्पाद-पङ्कजम्)** आपके चरणकमलों को **(आसाद्य अपि)** पाकर भी **(प्रणिधान-वन्ध्यः)** उनके ध्यान से रहित हुआ मैं **(वन्ध्यः अस्मि)** अभागा-फलहीन हूँ और **(तत्)** उससे **(हा)** खेद है कि मैं **(हतः अस्मि)** नष्ट हुआ जा रहा हूँ अर्थात् कर्म मुझे दु:खी कर रहे हैं।

टीका—हे भुवनपावन हे त्रैलोक्यपावन! चेत् यदि। त्वत्पाद पंकजमपि तव चरणकमलमपि। आसाद्य प्राप्य। प्राणिधानेन वध्यः। पुनः पुनश्चिन्तन-रहितस्तर्हि बन्ध्योऽस्म्यहं अहं निष्फल एव। तव पादा एव पंकज त्वत्पादपङ्कजं। हा इति खेदे हतोऽस्मि पीडितोऽस्मि। कथम्भूतं त्वत्पादपङ्कजं? नि:संख्याः संख्यारहिता ये साराः पदार्थास्तेषां शरणं गृहं। पुनः कथंभूतं? सादिता रिपवः कर्म वैरिणो येन तत्। पुनः कथंभूतं? प्रथितो विख्यातोऽवदानो महिमा यस्य तत्।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके पवित्र और दयालु चरणों को पाकर भी जो मैं उनका ध्यान नहीं कर रहा हूँ उससे मेरा जन्म निष्फल जा रहा है और मैं कर्मों के द्वारा दु:खी किया जा रहा हूँ।

रक्षा प्रार्थना

देवेन्द्रवंद्य! विदिताखिल - वस्तुसार!
संसारतारक! विभो! भुवनाधिनाथ!।
त्रायस्व देव! करुणा-हृद! मां पुनीहि,
सीदन्त-मद्य भयद-व्यसनाम्बुराशेः॥४१॥

अन्वयार्थ—(देवेन्द्रवन्द्य!) हे इन्द्रों के वन्दनीय! **(विदिताखिल-वस्तुसार!)** हे सब पदार्थों के रहस्य को जानने वाले **(संसारतारक!)** संसार सागर से तारने वाले! **(विभो)** हे प्रभो! **(भुवनाधिनाथ!)** हे तीनों लोक के स्वामिन्! **(करुणाहृद!)** हे दया के सरोवर! **(देव!)** देव! **(अद्य)** आज **(सीदन्तम्)** दुःखी होते हुए **(माम्)** मुझको **(भयद-व्यसनाम्बुराशेः)** भयंकर दुःखों के सागर से **(त्रायस्व)** बचाओ और **(पुनीहि)** पवित्र करो।

टीका—देवेन्द्राणां वन्द्यः पूज्यस्तस्यामन्त्रणे हे देवेन्द्रवन्द्य! विदितो-ज्ञातोऽखिलवस्तूनां सर्वपदार्थानां सारस्तात्पर्यं येन स तस्यामन्त्रणे हे विदिताखिलवस्तुसार! संसारे भवाब्धौ तारयतीति तस्यामन्त्रणे हे संसार-तारक! हे भुवनाधिनाथ! हे देव! करुणाया हृदः समुद्रः तस्यामन्त्रणे हे करुणाहृद! मां भक्तजनं। त्रायस्व पाहि! भो देव! अद्य भयदो भयदायी यो व्यसनानां आपदां अम्बुराशिः सागरस्तस्मात्। पुनीहि पवित्रय रक्ष। कथम्भूतं मां सीदन्तं दुःखितं दुःखेन पीडितम्।

भावार्थ—हे भगवन्! आप हरएक तरह से समर्थ हैं इसलिए आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे इस दुःख-समुद्र में डूबने से बचाइये और हमेशा के लिए कर्म-मैल से रहित कर दीजिये।

भक्ति फल की याचना

यद्यस्ति नाथ! भवदङ्घ्रि - सरोरुहाणां,
भक्तेः फलं किमपि सन्तत - सञ्चितायाः।
तन्मे त्वदेक-शरणस्य शरण्य! भूयाः,
स्वामी! त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि॥४२॥

अन्वयार्थ—(नाथ!) हे नाथ! **(त्वदेकशरणस्य)** केवल आप ही की है शरण जिसको ऐसे **(मे)** मुझे **(सन्ततसञ्चितायाः)** चिरकाल से सञ्चित-एकत्रित हुई **(भवद् अङ्घ्रिसरोरुहाणाम्)** आपके चरण कमलों की **(भक्तेः)** भक्ति का **(यदि)** यदि **(किमपि फलम् अस्ति)** कुछ भी फल है **(तत्)** तो उससे **(शरण्य!)** हे शरणागत प्रतिपालक! **(त्वम् एव)** आप ही **(अत्र भुवने)** इहलोक में और **(भवान्तरे अपि)** परलोक में भी **(मे स्वामी)** मेरे स्वामी **(भूयाः)** होवें।

टीका—भो नाथ! भो शरण्य! यदि चेत् भवदङ्घ्रिसरोरुहाणां श्रीमच्चरण-कमलानां भक्तेः किमपि फलं अस्ति चेत् तत्तर्हि मे मम अत्र भुवने इह जन्मनि भवान्तरेऽपि वा त्वमेव स्वामी प्रभुर्भूया भवतात्। कथं भूताया भक्तेः? सन्तत्या निरन्तरेण सञ्चिता कृता तस्याः। कथंभूतस्य मे? त्वमेव एकं अद्वितीयं शरणं यस्य स तस्य।

भावार्थ—हे भगवन्! स्तुति कर मैं आपसे अन्य किसी फलकी चाह नहीं रखता। सिर्फ यह चाहता हूँ कि आप ही मेरे हमेशा स्वामी रहें। अर्थात् जब तक मुझे मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है तब तक आप ही मेरे स्वामी रहें। ''तुम होहु भवभव स्वामि मेरे, मैं सदा सेवक रहूँ''।

भक्ति की विधि

इत्थं समाहित - धियो विधिवज्जिनेन्द्र !
सान्द्रोल्लसत्पुलक-कञ्चुकिताङ्ग - भागाः।
त्वद्बिम्ब - निर्मल-मुखाम्बुज - बद्धलक्ष्याः,
ये संस्तवं तव विभो! रचयन्ति भव्याः॥४३॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र!) हे जिनेन्द्र! **(ये भव्याः)** जो भव्यजन **(इत्थम्)** इस तरह **(समाहितधियः)** सावधान बुद्धि से युक्त हो **(त्वद् बिम्बनिर्मल-मुखाम्बुजबद्धलक्ष्याः)** आपके निर्मल मुखकमल की ओर अपलक लक्ष्य करके **(सान्द्र-उल्लसत्पुलककञ्चुकिताङ्गभागाः)** सघन-रूप से उठे हुए रोमांचों से व्याप्त शरीर के अवयव जिनके ऐसे **(सन्तः)** होते हुए **(विधिवत्)** विधिपूर्वक **(तव)** आपका **(संस्तवम्)**

स्तवन **(रचयन्ति)** रचते हैं।

टीका—भो जिनेन्द्र भो विभो! ये भव्याः प्राणिनः शुद्धसम्यक्त्व-धारिणो जनाः। तव भगवतो। जिनस्य संस्तवनं यथार्थं स्तोत्रं। इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण। विधिवत् यथाविधि रचयन्ति। कथम्भूता भव्याः? समाहिता सावधाना धी बुद्धिर्येषां ते। पुनः कथम्भूताः? सान्द्रः निबिडः उल्लसन् यो हि पुलकः कण्टकस्तेन कञ्चुकिताः कवचिता अङ्गभागा शरीरप्रदेशा येषां ते। पुनः कथम्भूता? तव बिम्बं त्वद्बिम्ब तस्य निर्मलं यन्मुखाम्बुजं मुखकमलं तत्र बद्धं लक्ष्यं यैस्ते।

भक्ति का फल स्वर्ग मोक्षसंपद

जननयनकुमुदचन्द्र! प्रभास्वराः स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा।
ते विगलित-मल-निचया अचिरान् मोक्षं प्रपद्यन्ते॥४४॥

टीका—जनानां भव्यानां नयनान्येव कुमुदानि कैरवाणि तत्र चन्द्रस्तस्यामंत्रणे हे जननयनकुमुदचन्द्र! ते भव्याः! स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा स्वर्गसाम्राज्यं परिभुज्य। अचिरात् स्वल्पकालेन। मोक्षं प्रपद्यन्ते लभंते। कीदृश्यः स्वर्गसम्पदः? प्रभास्वराः प्रकर्षेण भास्वराः दीप्यमानाः कथंभूता भव्याः? विगलितो मलनिचयो येषां ते विगलितमलनिचयाः।

अन्वयार्थ—(ते) वे **(जननयनकुमुदचन्द्र!)** हे प्राणियों के नेत्ररूपी कुमुदों-कमलों को विकसित करने के लिए चन्द्रमा की तरह शोभायमान देव! **(प्रभास्वराः)** देदीप्यमान **(स्वर्गसम्पदः)** स्वर्ग की विभूतियों को **(भुक्त्वा)** भोगकर **(विगलितमलनिचयाः 'सन्तः')** कर्मरूपी मल-समूह से रहित हो **(अचिरात्)** शीघ्र ही **(मोक्षम् प्रपद्यन्ते)** मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! जो भक्ति से गद्‌गद चित्त हो आपकी स्तुति करते हैं वे स्वर्ग के सुख भोग बहुत जल्दी आठ कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। **''स्वर्गन के सुख भोगकर, पावे मोक्ष निदान।''**

❑ ❑ ❑

ॐ

श्रीमद्वादिराजसूरि कृत

एकीभावस्तोत्रम्

सन्ताप हारक : जिनभक्ति

एकीभावं गत इव मया यः स्वयं कर्मबन्धो
घोरं दुःखं भवभवगतो दुर्निवारः करोति।
तस्याप्यस्य त्वयि जिनरवे भक्तिरुन्मुक्तये चेत्
जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतुः॥१॥

अन्वयार्थ—(जिनरवे) हे जिनसूर्य! **(मया-सह)** मेरी आत्मा के साथ **(स्वयं)** अपने आप **(एकीभावं)** तन्मयता को **(गत इव)** प्राप्त हुए की तरह **(दुर्निवारः)** बड़ी कठिनाई से दूर करने योग्य **(यः)** जो **(कर्मबन्धः)** कर्मबंध **(भव-भवगतः 'सन्')** प्रत्येक पर्याय में साथ जाता हुआ **(घोरम्)** भयानक **(दुःखम्)** दुःख को **(करोति)** करता है। **(त्वयि)** आपके विषय में होने वाली **(भक्तिः)** भक्ति अनुराग विशेष **(चेत्)** यदि **(तस्य अपि अस्य उन्मुक्तये)** उस कर्मबन्ध और इस दुःख के भी छुड़ाने—दूर करने के लिए है **(तर्हि)** तो फिर **(तया)** उस भक्ति के द्वारा **(अपरः)** दूसरा **(कः)** कौन **(तापहेतुः)** सन्ताप का कारण **(जेतुं शक्यः न भवति)** जीता नहीं जा सकता? अर्थात् अवश्य जीता जा सकता है।

टीका—जिनेषु रविः सूर्यस्तस्यामन्त्रणे हे जिनवर! यः कर्मबन्धः अष्टकर्मणां प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन चतुर्विधो बंधः स्वयं घोरं निविडं दुःखं करोति विदधाति। कीदृशः कर्मबन्धः मया सह एकीभावं गत इवएकत्वमापन्न इव। पुनः भवभवगतः प्रतिभवं गतः पुनः दुःखेन

निवारयितुमशक्यः दुर्निवारः। तस्य कर्मबन्धस्य अस्यापि दुःखस्यापि चेत्। यदि त्वयि भगवति विषये भक्तिः तर्हि उन्मुक्तये उन्मोचनाय भवति। तथा वद्तया भक्त्या कृत्वा कः अपर स्तापहेतुः को वा जेतुं न शक्यो भवति? जयो भवतीत्यर्थः। भो जिन! संसारसन्तापं त्वद्भक्ति बिना कोपि जेतुं शक्तो न भवतीति तात्पर्यम्। अपितु जेतु शक्य इत्यर्थः।

भावार्थ—हे भगवन्! जब आपकी भक्ति से भव भव में दुःख देने वाला कर्मबन्ध भी दूर हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है तब उससे दूसरे शारीरिक सन्ताप के कारण दूर हो जावें इसमें आश्चर्य ही क्या है।

ज्योति स्वरूप : जिनवर

ज्योतीरूपं दुरितनिवहध्वान्तविध्वन्सहेतुं
त्वामेवाहुर्जिनवर! चिरं तत्त्व-विद्याभियुक्ताः।
चेतोवासे भवसि च मम स्फारमुद्भासमान-
स्तस्मिन्नंहः कथमिव तमो वस्तुतो वस्तुमीष्टे॥२॥

अन्वयार्थ—(हे जिनवर!) कर्म शत्रुओं को जीतने वालों में श्रेष्ठ हे जिनेन्द्र! जबकि **(तत्त्वविद्याभियुक्ताः)** तत्त्व विद्या को जानने वाले ऋषि गण **(चिरं)** बहुत समय से **(त्वाम् एव)** आपको ही **(दुरित-निवहध्वान्त-विध्वन्सहेतुम्)** पापसमूहरूपी अन्धकार के नाश करने में कारणभूत **(ज्योती-रूपम्)** तेजरूप ज्ञानस्वरूप **(आहुः)** कहते हैं **(च)** और आप **(मम)** मेरे **(चेतोवासे)** मनरूपी मन्दिर में **(स्फारं)** अत्यन्तरूप से निरन्तर **(उद्भासमानः)** प्रकाशमान **(भवसि)** हो रहे हो तब **(तस्मिन्)** उस मन मन्दिर में **(वस्तुतः)** निश्चय से **(अंहः तमः)** पापरूपी अन्धकार **(वस्तुं)** निवास करने के लिए—ठहरने के लिए **(कथं इव)** किस तरह **(ईष्टे)** समर्थ हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

टीका—जिनेषु गणधरदेवेषु वरः श्रेष्ठस्तस्यामन्त्रणे हे जिनवर! चिरं चिरकालं तत्त्वविद्याभियुक्ताः तत्वज्ञानिनोगणधर-देवादयः त्वामेव ज्योतीरूपं परमतेजः स्वरूपं अर्ह इत्याहुः भणन्ति तत्त्वविद्याभिः अभियुक्ताः संयुक्ताः तत्त्वविद्याभियुक्ताः ज्योतिस्तेजः एवरूपं यस्य स तं। कीदृशं त्वां—दुरितानां

पापानां निवहः समूहः स एव ध्वान्तं तमस्तस्य विध्वन्सस्यहेतुः कारणं तं भो देव च पुनः मम चेतोवासे मनोगृहे स्फारं बहुलं यथास्यात्तथा उद्भासमानः दीप्यमानः सन् त्वं भवसि जातोसि। तस्मिन् मनोगृहे अहंः पापं तदेव तमोन्धकारं। कथमिव किमिव? वस्तुतो-निश्चयात् वस्तुं स्थातुं ईष्टे स्थितिं करोति न ईष्टे इत्यर्थ।

भावार्थ—हे भगवन्! जो आपका ध्यान करता है, उसके सब पाप उस तरह नष्ट हो जाते हैं जिस तरह कि दीपक के प्रकाश से अन्धकार।

विषमव्याधि निवारक

आनन्दाश्रु-स्नपितवदनं गद्गदं चाभिजल्पन्
यश्चायेत त्वयि दृढमनाः स्तोत्रमन्त्रैर्भवन्तम्।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देहवल्मीकमध्यान्-
निष्कास्यन्ते विविध-विषमव्याधयः काद्रवेयाः॥३॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र! **(आनन्दाश्रुस्नपितवदनं च गद्गदं)** आनन्दाश्रुओं-हर्षरूपी आँसुओं से मुख को प्रक्षालित करता हुआ और अव्यक्त ध्वनि से **(अभिजल्पन्)** स्तुति करता हुआ **(यः)** जो मनुष्य **(स्वयं)** आपमें **(दृढमनाः)** स्थिर चित्त होकर **(स्तोत्रमन्त्रैः)** स्तवनरूप मंत्रों से **(भवन्तम्)** आपको **(अयेत्)** पूजता है-स्तुति करता है। **(तस्य)** उसके **(सुचिरम्)** चिरकाल से **(अभ्यस्तात् अपि)** परिचित भी **(देहवल्मीकमध्यात्)** शरीररूपी वामी के मध्य से-बीच से **(विविध-विषमव्याधयः)** अनेकप्रकार के कठिन रोगरूपी **(काद्रवेयाः)** साँप **(निष्कास्यन्ते)** बाहर निकाल दिए जाते हैं।

टीका—यः कश्चित् पुमान् भवन्तं त्वां स्तोत्रमन्त्रैः कृत्वा स्तवनरूपमन्त्रैः आनन्दाश्रुभिः हर्षाश्रुभिः स्नपित वदनं यत्र तत् यथास्यात्तथा चायेत् पूजयेत् च स्तुतिं कुर्यात्। च पुनः हर्षात्, गद्गदं अव्यक्तशब्दं अभिजल्पन् कथंभूतो यः त्वयि परमेश्वरे दृढं निश्चलं मनोयस्य सः। एकाग्रचित्तः तस्य पुरुषस्य देहबल्मीकमध्यात् विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः नानाविधविषमरोग-लक्षणाः सर्पाः निष्कासन्ते बहिः निर्गच्छन्ति। देहः शरीरं

स एव वल्मीकस्तस्य मध्यं तस्मात्। विविधानानाप्रकारा विषमश्च ते व्याधयश्च विविध-विषमव्याधयः। कद्रोरपत्यानि काद्रवेयाः कथम्भूताः विविधविषव्याधयः काद्रवेयाः सुचिरं चिर अभ्यस्ता अपि चिरं निवसिता अपि विविध-विषयव्याधयः। इति पाठान्तरे विविधः नानाविधः विषयो येषां ते स्तोत्रमेवमन्त्राः स्तोत्रमन्त्रास्तैः स्तोत्रमन्त्रैः।

भावार्थ—हे भगवन्! जो मनुष्य शुद्ध चित्त से आपकी स्तुति करता है उसके समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं।

देह बनी सुवर्णमय

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्यात्-
पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव! निन्येत्वयेदम्।
ध्यानद्वारं ममरुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्टस्-
तत्किं चित्रं जिन! वपुरिदं यत्सुवर्णी-करोषि॥४॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे भगवन्! **(भव्यपुण्यात्)** भव्य जीवों के पुण्य के द्वारा **(इह)** यहाँ पर **(त्रिदिवभवनात्)** स्वर्ग लोक से माता के गर्भ में **(एष्यता)** आने वाले **(त्वया)** आपके द्वारा **(प्राक्एव)** पहले ही जब **(इदम्)** यह **(पृथ्वीचक्रम्)** भूमण्डल पृथ्वी—मण्डल **(कनकमयतां)** सुवर्णमयता को **(निन्ये)** प्राप्त कराया गया था। तब **(जिन!)** हे जिनेन्द्र! **(ध्यानद्वारं)** ध्यानरूपी दरवाजे से युक्त **(मम)** मेरे **(रुचिकरम्)** सुन्दर **(स्वान्तगेहं)** मनरूप मन्दिर में **(प्रविष्टः)** प्रविष्ट हुए **(इदं वपुः)** कुष्ठरोग से पीड़ित मेरे इस शरीर को **(यत्)** जो **('त्वम्')** आप **(सुवर्णीकरोषि)** सुवर्णमय कर रहे हो **(तत्किंचित्रम्)** उसमें क्या आश्चर्य है? अर्थात् कुछ नहीं।

टीका—भो देव-भव्यपुण्यात् त्रिदिव भुवनात् स्वर्गलोकात् इहलोके एष्यता समागमिष्यता त्वया परमेश्वरेण प्रागेवपूर्वमेव इदं पृथ्वीचक्रं भूवलयं रत्नवृष्ट्यादिभिः कनकमयतां सुवर्णमयतां निन्ये नीतं। त्रिदिवः स्वर्गस्तस्य भवनं गृहं विमानं वा तस्मात्। भव्यानां पुण्यं भव्यपुण्यं तस्मात् एष्यतीति एष्यंस्तेन एष्यता। पृथव्याश्चक्रं पृथ्वीचक्रं। कनकविकारं कनकमयं-

तस्यभावस्तां। हे जिन! मम स्वान्तगेहं ममान्तःकरणमन्दिरं त्वं प्रतिष्ठः सन् यत् इदं मदीयं कुष्ठरोगाक्रान्तं वपुः शरीरं सुवर्णीकरोषि, तत्किमाश्चर्यं न किमपि आश्चर्य-मित्यर्थः। असुवर्णं सुवर्णं करोषि, इति सुवर्णीकरोषि। स्वान्तमेव गेहं स्वान्तगेहं कीदृशं स्वान्तगेहं। ध्यानमेवद्वारं यस्मिन् तत्। पुनः रुचिं करोतीति रुचिकरं मनोहरमित्यर्थः।

भावार्थ–''यह कथा प्रसिद्ध है कि इस स्तोत्र के बनाने वाले वादिराज मुनि को कोढ़ हो गया था, उनका सारा शरीर कोढ़ से गल रहा था। उन्होंने ज्यों ही एकीभाव स्तोत्र रचकर पढ़ना शुरू किया त्यों ही उनका कोढ़ कम होने लगा और जब तक उन्होंने इस श्लोक को बनाकर पूर्ण किया तब तक उनका सब कोढ़ दूर हो गया और शरीर सोने की तरह चमकने लगा।'' इसी बात को मुनिराज ने लक्ष्य कर कहा है कि–जब आप स्वर्गलोक से भूलोक पर आने के लिए छह माह बाकी थे तभी आपके प्रभाव से यह समस्त पृथ्वी सोने जैसी सुन्दर हो गई थी। फिर अब तो आप हमारे मन मन्दिर में प्रविष्ट हो चुके हैं। इसलिए यदि यह शरीर सुन्दर अथवा सुवर्ण का हो जावे तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। सुवर्ण शब्द के दो अर्थ हैं–एक सुन्दर और दूसरा सोना।

अकारण बन्धु

लोकस्यैकस्त्वमसि भगवन्! निर्निमित्तेन बन्धुस्–
त्वय्येवासौ सकलविषया शक्तिरप्रत्यनीका।
भक्तिस्फीतां चिरमधिवसन्मामिकां चित्तशय्यां
मय्युत्पन्नं कथमिव ततः क्लेशयूथं सहेथाः॥५॥

अन्वयार्थ–(भगवन्!) हे भगवन्! जब **(त्वम्)** आप **(लोकस्य)** संसार के प्राणियों के **(निर्निमित्तेन)** स्वार्थ रहित–बिना किसी प्रयोजन के **(एकः)** अद्वितीय **(बन्धुः असि)** बन्धु–हित करने वाले हो और **(असौ)** यह **(सकलविषयाशक्तिः)** सब पदार्थों को विषय करने वाली शक्ति भी **(त्वयि)** आपमें ही **(अप्रत्यनीका)** बाधा रहित है। **(ततः)** तब **(भक्तिस्फीताम्)** भक्ति के द्वारा विस्तृत **(मामिकां)** मेरी **(चित्तशय्याम्)**

मनरूपी पवित्र शय्या पर **(अधिवसन्)** निवास करने वाले आप **(मयि उत्पन्नम्)** मुझमें उत्पन्न हुए **(क्लेशयूथम्)** दुःख समूह को **(कथं एव)** किस तरह **(सहेथाः)** सहन करोगे अर्थात् नहीं करोगे।

टीका—हे भगवन्! त्वं एक अद्वितीयो लोकस्य निर्निमित्तेन निष्कारणेन बान्धवो वर्तसे। त्वय्येवासौ शक्तिः सकलविषया वर्तते सकलं विषयो यस्याः सा। कथंभूताशक्तिः अप्रत्यनीका प्रतिषेधरहिता। कीदृशीं तां मामिकां मदीयां चित्तशय्यां चिरं चिरकालं अधिवसन्। ममेयं मामिकां तां, चित्तमेवशय्या चित्तशय्या तां। कीदृशीं चित्तशय्यां भक्त्यास्फीतां महतीभक्तिः तया स्फीतां तां। यतः कारणात् निष्कारणं बन्धुस्तत् कारणात् मय्युत्पन्नं क्लेशयूथं कष्टसमूहं कथमिव सहेथाः किमिव सहनं कुर्वीथा, क्लेशानां यूथं क्लेशयूथम्।

भावार्थ—भगवन् आप भाई की तरह स्वार्थ रहित होकर संसार का कल्याण करते हैं और आप में कल्याण करने की शक्ति भी मौजूद है। इतना सब कुछ होने पर भी मैं बहुत समय से आपका ध्यान कर रहा हूँ। फिर भी क्या आप हमारे दुःखों को देखते हुए भी नष्ट नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे।

नयकथारूपी अमृतवापी

जन्माटव्यां कथमपि मया देव! दीर्घं भ्रमित्वा,
प्राप्तैवेयं तव नयकथा स्फारपीयूषवापी।
तस्या मध्ये हिमकर-हिमव्यूहशीतेनितान्तं,
निर्मग्नं मां न जहति कथं दुःख-दावोपतापाः॥६॥

अन्वयार्थ—**(देव!)** हे स्वामिन्! **(मया)** मेरे द्वारा **(जन्माटव्यां)** संसाररूपी अटवी में **(दीर्घं)** बहुत काल तक **(भ्रमित्वा)** घूमकर अथवा घूमने के बाद **(तव)** आपकी **(इयम्)** यह **(नयकथा)** स्याद्वादनय कथारूपी **(स्फार-पीयूषवापी)** बड़ी भारी अमृत रस से भरी हुई बावड़ी **(कथं अपि)** किसी तरह बड़े कष्ट से **(प्राप्ता एव)** प्राप्त ही कर ली गई है। फिर भी **(हिमकर-हिमव्यूहशीते)** चन्द्रमा और बर्फ के समूह से भी शीतल **(तस्याः)** उसके **(मध्ये)** बीच में **(नितान्तम्)** अत्यन्तरूप से

(निर्मग्नं) डूबे हुए **(माम्)** मुझको **(दु:ख-दावोपतापा:)** दु:खरूपी दावानल के सन्ताप **(कथं न जहति)** क्यों नहीं छोड़ते हैं?

टीका—हे देव! भो स्वामिन्! मया जन्माटव्यां भवारण्ये दीर्घं भ्रमित्वा कथमपि महताकष्टेन इयमेव तव भगवतः नयकथास्फारपीयूषवापी अनेकान्तमतोदार सुधारसदीर्धिका प्राप्ता लब्धा जन्मैवअटवी जन्माटवी तस्यां जन्माटव्यां, नयकथैवस्फारपीयूषवापी नयकथास्फारपीयूषवापी तस्या-वापिकाया मध्ये नितान्तमतिशयेन निर्मग्नं मां दु:खदावोपतापाः कृच्छादावानल-परितापाः कथं न जहति किं न त्यजति? अपि तु जहतीत्यर्थ:। दु:खान्येव दावाः दु:खदावास्तेषां उपतापा:। कथंभूतावापी मध्ये हिमकरश्चन्द्रधिमस्तस्त व्यूहः समूहस्तद्वत् शीते शीतलं इत्यर्थ:।

भावार्थ—हे भगवन्! जो मनुष्य आपके नयवाद को अच्छी तरह समझकर उसके अनुसार प्रवृत्ति करता है उसके सब दु:ख उस तरह नष्ट हो जाते हैं जिस तरह कि बावड़ी के ठण्डे जल में डूबे हुए मनुष्य को दावानल की गर्मी।

कल्याणकारक : प्रभु स्पर्श

पादन्यासादपि च पुनतो यात्रया ते त्रिलोकीं,
हेमाभासो भवति सुरभिः श्रीनिवासश्च पद्मः।
सर्वाङ्गेण स्पृशति भगवंस्त्वय्यशेषं मनो मे,
श्रेयः किं तत्स्वयमहरहर्यन्नमामभ्युपैति॥७॥

टीका—हे भगवन्! ते तव पादन्यासादपि भवच्चरणारोपणादपि पद्मः कमलं हेमाभासो भवति। हेमवदाभासा यस्य स च पुनः पद्मः तव पादन्यासात् श्रीनिवासः लक्ष्म्या गृहं भवति। श्रियाः निवासः श्रीनिवास:, कथंभूतस्य तव यात्रया भव्य प्राणिप्रबोधार्थं विहार:। क्रमेण त्रिलोकीं पुनः पवित्रयत:, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तां। हे देव त्वयि परमेश्वरे सर्वाङ्गेण सर्व शरीरेण मे मम अशेषं मनोन्त:करणं स्पृशति सति तत्किं श्रेयो: वर्तते। यत्श्रेय:कल्याणं हेमाभासादिष्वयमेव अहरहः प्रतिदिनं मां न अभ्युपैति मां न प्राप्नोति अपितु अभ्युपैति इत्यर्थ:।

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र! **(यात्रया)** विहार के द्वारा **(त्रिलोकीम्)** तीनों लोकों को **(पुनतः)** पवित्र करने वाले **(ते)** आपके **(पादन्यासात् अपि)** चरणों के रखने मात्र से ही जब **(पद्म)** कमल **(हेमाभासः)** सुवर्ण-सी कान्ति वाला **(सुरभिः)** सुगन्धित **(च)** और **(श्रीनिवासः)** लक्ष्मी का गृह—शोभा का स्थान हो जाता है। तब **(हे भगवन्!)** हे स्वामिन्! **(त्वयि मे अशेषम् मनः सर्वाङ्गेण स्पृशति 'सति')** आप में मेरे समस्त मन को सर्व अंगों के द्वारा स्पर्श करने पर **(तत्)** वह **(किं श्रेयः?)** कौन-सा कल्याण है **(यत्)** जो **(माम्)** मुझे **(अहरहः)** प्रतिदिन **(स्वयं)** अपने आप **(न अभ्युपैति)** प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ—कवि लोग कमल को 'लक्ष्मी का घर है' ऐसा वर्णन करते हैं। कमल सुगन्धित भी होता है और कोई कोई पीला कमल सुवर्ण के समान सुन्दर भी। जब केवली भगवान् का विहार होता है तब देवलोग उनके चरणोंके नीचे कमल बना देते हैं। यहाँ कवि का यह विश्वास है कि कमल को जो सोने जैसा सुन्दर रूप, सुगन्धि और लक्ष्मी का घर बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है सो वह आपके चरणों के निक्षेप मात्र से ही हुआ है। भगवन्! जब आपके चरण-निक्षेप में इतनी शक्ति है तब आप तो हमारे हृदय-कमल को सब तरफ से छू रहे हैं। ऐसी हालत में मुझे तरह तरह के कल्याण प्राप्त हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। श्लोक का सारांश यह है कि जो आपका ध्यान करता है उसे सब कल्याण प्राप्त होते हैं।

वचनरूपी अमृत

पश्यन्तं त्वद्वचनममृतं भक्तिपात्र्या पिबन्तं,
कर्मारण्यात्-पुरुष-मसमानन्दधाम प्रविष्टम्।
त्वां दुर्वारस्मरमदहरं त्वत्प्रसादैक भूमिं-,
क्रूराकाराः कथमिव रुजाकण्टका निर्लुठन्ति॥८॥

टीका—भो देव! रुजा कण्टकाः गदलक्षणा कण्टकाः पुरुषं कथमिव निर्लुठन्ति पीडयन्ति। न निर्लुठन्तीत्यर्थः। रुजा एवं कण्टकाः ''रुग्रुजा चोपजाता ये रोगव्याधिगदामयाः इति हलायुधः। कथंभूतं पुरुषं त्वां परमेश्वरं

पश्यन्तं विलोकयन्तं। पुनः त्वद्वचनममृतं भक्ति पात्र्या पिबन्तं तव वाक्यामृतं तव वचनं भक्तिरेव पात्री स्थाली भक्ति पात्री तथा पुनः कर्मारण्यादसमानन्दधाम प्रविष्टं। कर्मैव अरण्यं वनं कर्मारण्यं तस्मात्। असमं अतुल्यं यत् आनन्दधामहर्षमन्दिरं तत्र प्रविष्टस्तं। कथंभूतं? त्वां दुर्वार। यो हि स्मरः कामस्तस्य मदान् हरति तं। कीदृशं पुरुषं तवप्रसादास्त्वप्रसाद एव एका अद्वितीयाः भूमिर्यस्य स तं। कीदृशाः रुजा रोगा एव कण्टकाः क्रूराकारः क्रूराः कठिनाः आकारा येषां ते।

अन्वयार्थ—हे नाथ! **(कर्मारण्यात्)** कर्मरूपी वन से **(असमानन्द-धाम-प्रविष्टम्)** अनुपम सुख के स्थान मोक्ष में प्रविष्ट हुए तथा **(दुर्वारस्मर-मदहरं)** दुर्जय कामदेव के मद को हरण करने वाले आपको **(पश्यन्तं)** देखने वाले और **(भक्तिपात्र्या)** भक्तिरूपी कटोरों से **(त्वद्वचनं अमृतं पिबन्तं)** आपके वचनरूपी अमृत को पीने वाले अतएव **(त्वत्प्रसादैकभूमिम्)** आपकी प्रसन्नता के स्थानभूत **(पुरुषं)** पुरुष को **(क्रूराकाराः)** भयंकर आकार वाले **(रुजाकण्टकाः)** रोगरूपी काँटें **(कथमिव?)** किस तरह **(निर्लुठन्ति)** सता सकते हैं—पीड़ा दे सकते हैं? अर्थात् नहीं दे सकते।

भावार्थ—हे भगवन्! जो आपका दर्शन करते हैं वे और अमृत के समान सुख देने वाले आपके उपदेश को सुनते हैं उनके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं, वे सुखमय मोक्षस्थान को पा लेते हैं और उन्हें रोग रूपी कांटे नहीं सताते। ठीक भी है–जो कटीली झाड़ियों से भरे हुए जङ्गल में प्यास से पीड़ित हो जहाँ तहाँ घूमता है उसे ही कांटे लगते हैं, पर जो ठण्डा पानी पीता हुआ अच्छे घरमें निवास करता है उसे कांटे क्यों लगेंगे।

अपूर्व शक्ति प्रदाता

पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्ति-
र्मानस्तम्भो भवति च परस्तादृशो रत्नवर्गः।
दृष्टि-प्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणां,
प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः॥९॥

अन्वयार्थ—हे देव! **(पाषाणात्मा)** पत्थररूप **(मानस्तम्भ:)** मानस्तम्भ **(तदितरसम:)** अन्य पत्थर के स्तम्भ समान ही है **(केवलम्)** सिर्फ **(रत्नमूर्ति:)** रत्नमयी है परन्तु **(पर: रत्नवर्ग:)** दूसरे रत्नों का समूह वैसा ही है—ऐसा होने पर **(यदि)** अगर **(तस्य)** उस मानस्तम्भ की **(तत्‌शक्तिहेतु:)** वैसी शक्ति में कारणस्वरूप **(भवत:)** आपकी **(प्रत्यासत्ति:)** निकटता न होती तो **(स:)** वह मानस्तम्भ **(दृष्टिप्राप्त:)** देखने मात्र से ही **(नराणाम्)** मनुष्यों के **(मानरोगं)** मान—अहंकाररूपी रोग को **(कथं हरति?)** कैसे हर सकता है? अर्थात् नहीं हर सकता।

टीका—मानस्तम्भ: पाषाणात्मासन् तदितरसम: अन्य पाषाण सदृशो भवति, तस्मात् पाषाणात् इतरस्तेन सम:। च पुन: केवलं रत्नमूर्ति: रत्नमय: परं केवलं रत्नवर्ग: रत्नराशिस्तादृशी वर्तते स मानस्तम्भ:! दृष्टि प्राप्त: दृष्टिं सन् दर्शनमात्रादेव नाराणां लोकानां मानरोगं अहंकाररोगं कथं हरति? केन प्रकारेण निराकरोति? यदि चेत् तस्य मानस्तम्भस्य भवत: परमेश्वरस्य प्रत्यासत्ति। सामीप्यम् न भवेत्। दृष्टिप्राप्त: दृष्टिप्राप्त: मान एव रोगो मानरोगस्तं। कीदृशस्य भवत: तस्य मानस्तम्भस्य मानरोगहरणे शक्ति: तस्या हेतु: कारणं तस्य।

भावार्थ—समवसरण की चारों दिशाओं में चार रत्नमयी स्तम्भ होते हैं उन्हें मानस्तम्भ कहते हैं। उन्हें देखते ही दर्शकों का अभिमान नष्ट हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि मानस्तम्भ अन्य स्तम्भों की तरह ही पत्थर का बना हुआ है। यदि उसमें यह विशेषता मानी जावे कि वह रत्नों का बना होता है तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि अन्य रत्नों की राशि भी तो रत्नों से बनी रहती है। फिर वह निगाह के सामने आते ही मनुष्यों के मान क्यों हर लेता है? भगवन्! उसका कारण सिर्फ आपकी समीपता ही है। आपके समीप में रह कर ही वह मानहरण रूप विशाल कार्य को कर लेता है। लोक में भी देखा जाता है कि महापुरुषों के साथ होने से लघु मनुष्य भी भारी काम कर लेते हैं।

सर्वोपकारी शक्ति

हृद्यः प्राप्तो मरुदपि भवन्मूर्तिशैलोपवाही,
सद्यः पुंसां निरवधिरुजा धूलिबन्धं धुनोति।
ध्यानाहूतो हृदयकमलं यस्य तु त्वं प्रविष्टस्-
तस्याशक्यः क इह भुवने देव! लोकोपकारः॥१०॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे स्वामिन्! जब **(भवन्मूर्तिशैलोपवाही)** आपके शरीररूपी पर्वत के पास से बहने वाली **(हृद्यः)** मनोहर **(मरुत् अपि)** हवा भी **(प्राप्तः 'सन्')** प्राप्त होती हुई **(पुंसां)** पुरुषों के **(निरवधिरुजा-धूलिबन्धम्)** अपरिमित रोगरूपी धूली के संसर्ग को **(सद्यः)** शीघ्र ही **(धुनोति)** दूर कर देती है। **(तु)** तब **(ध्यानाहूतः)** ध्यान के द्वारा बुलाये गए **(त्वम्)** आप **(यस्य)** जिसके **(हृदयकमलं)** हृदयरूपी कमल में **(प्रविष्टः)** प्रविष्ट हुए हैं **(तस्य)** उस पुरुष को **(इहभुवने)** इस संसार में **(कः)** कौन-सा **(लोकोपकारः)** लोगों का उपकार **(अशक्यः)** अशक्य है—नहीं करने योग्य है। अर्थात् कोई भी नहीं।

टीका—हे देव! भवन्मूर्तिशैलोपवाही मरुदपि वायुरपि हृद्यः अनुकूलः प्राप्तः सन् पुंसां जनानां सद्यस्तत्कालं निरवधिरुजा धूलिबन्धं निमर्यादं रेणुसमूहं धुनोति स्फीटयति। भवतः मूर्ति शरीरं सैव शैलः पर्वतस्तं उपवहतीति निरवधयः मर्यादारहिताः या रुजाः रोगास्तएव धूलयस्तासां बन्धःसमूहस्तं। तु पुनस्त्वं ध्यानाहूतः सन् यस्य प्राणिनो हृदयकमलं प्रविष्टः तस्य प्राणिनः इह भुवने कः लोकोपकारः अशक्यो भवति। अपि तु न कोपीत्यर्थः। ध्यानेन आहूतः आकारितः ध्यानाहूतः। हृदयमेव कमलं, हृदयकमलं, लोकानां उपकारः लोकोपकारः।

भावार्थ—हे भगवन्! जब आपके शरीर के पास बहने वाली हवा भी मनुष्यों के रोगों को दूर कर देती है तब आप साक्षात् जिसके हृदय में मौजूद हैं उसके सब रोग नष्ट होकर उसे तरह तरह के कल्याण प्राप्त हों इसमें क्या आश्चर्य है?।

तुम ही ज्ञाता

जानासि त्वं मम भव-भवे यच्च यादृक्च दु:खं,
जातं यस्य स्मरणमपि मे शस्त्रवन्निष्पिनष्टि।
त्वं सर्वेश: सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या,
यत्कर्तव्यं तदिह विषये देव एव प्रमाणम्॥११॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे भगवन्! **(मम)** मुझे **(भवभवे)** प्रत्येक पर्याय में **(यत् च यादृक् च)** जो और जैसा—जिस तरह का **(दु:खम्)** दु:ख—कष्ट **(जातम्)** प्राप्त हुआ है **(तत् त्वं जानासि)** उसको आप जानते ही हैं। और **(यस्य)** जिसका **(स्मरणं अपि)** स्मरण भी **(मे)** मेरे लिए **(शस्त्रवत्)** शस्त्र के समान—तलवार आदि अस्त्र के घात समान **(निष्पिनष्टि)** दु:ख देता है और हे नाथ! **(त्वम्)** आप **(सर्वेश:)** सबके स्वामी **(च)** और **(सकृप:)** दया से युक्त हैं—दयालु हैं। **(इति)** इसलिए **(भक्त्या)** भक्तिपूर्वक **(त्वाम् उपेत: अस्मि)** आपके पास आया हूँ—आपकी शरण में प्राप्त हुआ हूँ। अत: अब **(इह विषये)** इस विषय में **(यत् कर्तव्यं)** जो करना चाहिए उसमें **(देव: एव प्रमाणम्)** आप देव ही प्रमाण हैं। अर्थात् जैसा आप चाहें वैसा करें।

टीका—हे देव! मम भव-भवे प्रतिजन्मनि यच्च यादृक् च दु:खं नरकतिर्यक्नरदेवयो: सम्भवं जातं प्राप्तं। यस्य दु:खस्य स्मरणमपि मे मम शस्त्रवत् खड्गवत् निष्पिनष्टि चूर्णयति शतखण्डी करोति। अत्र हिंसार्थ-धातुयोगात्, द्वितीयार्थे षष्ठी। तत्त्वं जानासि-वेत्सि। हे नाथ! त्वं सर्वेषां प्राणिनामीश: स्वामी। च पुन: त्वं सकृप इति। किं कृपया सहवर्तमान: इति, अगाधं मनस्यालोच्य त्वां त्रैलोक्यनाथं भक्त्या कृत्वा अहं उपेतोस्मि प्राप्तोऽस्मि अगाधं भाव:। तत्तस्मात्कारणात् इह तल्लक्षणे विषये यत्कर्तुयोग्यं कर्तव्यं देव: त्वमेव प्रमाणं निश्चय: अन्यथा न।

भावार्थ—हे भगवन्! आप सर्वज्ञ है इसलिए हमारे भव-भव के दु:खों को जानते हैं, आप सबके ईश्वर हैं इसलिए आप में हमारे दु:ख दूर करने की सामर्थ्य है और आप दया सहित हैं, इसलिए आपको हमारे दु:खों पर दया भी आती है, यह सब विचारकर मैं आपकी शरण में आया

हूँ। शरण में आये हुए सेवक के प्रति स्वामी का क्या कर्त्तव्य है आप ही सोच लीजिये अर्थात् हमारे दु:खों को दूर कर दीजिये।

श्री प्रदाता : नमस्कार मन्त्र

प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टै:,
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यम्।
क: सन्देहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वं,
जल्पन् जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम्॥१२॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र! जबकि **(मरणसमये)** मृत्यु के समय में **(जीवकेन)** जीवन्धरकुमार के द्वारा **(उपदिष्टै:)** बताये गए **(तव नुतिपदै:)** आपके नमस्कार मंत्र के पदों से **(पापाचारी)** पापरूप प्रवृत्ति करने वाला **(सारमेय: अपि)** कुत्ता भी **(दैवं)** देव–स्वर्गलोक सम्बन्धी **(सौख्यम्)** सुख को **(प्रापत्)** प्राप्त हुआ था। तब **(अमलै: जाप्यै: मणिभि:)** निर्मल जपने योग्य माला की मणियों के द्वारा **(त्वन्नमस्कारचक्रम्)** आपके नमस्कारमंत्र के समूह को **(जल्पन्)** जपता हुआ **(यत्)** जो मनुष्य **(वासवश्रीप्रभुत्वम्)** इन्द्र की विभूति के अधिपतित्व को–स्वामीपने को **(लभते)** प्राप्त होता है। इस विषय में **(क: सन्देह:)** क्या सन्देह है?

टीका—भो विभो! तव परमेश्वरस्य नुतिपदै: स्तोत्रपदै: कृत्वा सारमेयोऽपि कुक्कुरोऽपि दैवं सौख्यं प्रापत् प्राप्तवान्, देवस्येदं दैवं। कथंभूतै: तव नुतिपदै:। मरण समये–मरणावस्थायां जीवकेन क्षत्रियवंशचूडामणि श्री सत्यन्धर महाराज पुत्रेण उपदिष्टै: कर्णे जपीकृतै:। कथंभूत: सारमेय: पापाचारी आजन्म पापमेवाचरतीत्येवंशील: पापाचारी। भो देव! यस्त्वन्नमस्कारचक्रं अमलै: मणिभि: जाप्यै: जल्पन् सन् शुद्धस्फटिकमणि–मुक्ताफलरजतसुवर्णप्रवाल–चन्दनागुरुसम्भवमणिभि: तव नमस्कारमन्त्रं समभिजल्पन् वासवश्रीप्रभुत्वं–सौधर्मादिलक्ष्मीसाम्राज्यं उपलभते प्राप्नोति। अत्र क: सन्देह: किमाश्चर्यमत्र। तवनमस्कारास्त्वन्नमस्कारास्तेषां चक्रं वासव इन्द्र श्री: लक्ष्मी: तस्या: प्रभुत्वमैश्वर्यम्।

भावार्थ—जीवन्धर राजपुरी नगरी के राजा सत्यन्धर के पुत्र थे।

इनके उत्पन्न होने के दिन ही प्रधानमन्त्री काष्ठांगार ने कपट से राजा सत्यन्धर को मार डाला था और इनकी माता विजया दण्डकवन में तपस्वियों के आश्रम में चली गई थी इसलिए इनका पालनपोषण राजपुरी नगरी के श्रेष्ठ वैश्य गन्धोत्कट के घर हुआ था। वह इन्हें अपना पुत्र समझकर बड़े लाड़-प्यार से इनका पालन करता था। जब ये बड़े हुए तब इनका गरुड़ वेग विद्याधर की पुत्री गन्धर्वदत्ता के साथ विवाह हो गया। एक दिन ये अपने मित्रों के साथ बसन्तऋतु की शोभा देखने के लिए वन में जा रहे थे कि वहाँ अचानक इनकी दृष्टि एक कराहते हुए कुत्ते पर पड़ी। उस कुत्ते को कुछ ब्राह्मणों ने साकल्य-हवन सामग्री को जूठा कर देने के अपराध में बुरी तरह पीटकर घायल कर दिया था। जीवन्धरकुमार के लिए जब कुत्ते के जीवित रखने की आशा न रही तब उन्होंने उसे णमोकार मन्त्र सुनाना प्रारम्भ किया। कुत्ते की होनहार अच्छी थी, इसलिए वह मन्त्र के प्रभाव से मरकर चन्द्रोदय पर्वत पर यक्ष जाति के देवों का इन्द्र हुआ उसका नाम सुदर्शन था।

प्रस्तुत कहानी का यह भाव है कि आपकी स्तुति के थोड़े से अक्षरों का मृत्यु समय श्रवण करने मात्र से जब महापापी कुत्ता भी देव हो सकता है तब जो निरन्तर भावपूर्वक आपका स्तवन करेगा, मणियों की माला से आपके नाम की जाप करेगा, वह यदि स्वर्ग में इन्द्र हो जावे तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?।

मोक्षद्वार उद्‌घाटक

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,
भक्तिर्नो चेदनवधि-सुखावञ्चिका कुञ्चिकेयम्।
शक्योद्‌घाटं भवति हि कथं मुक्ति-कामस्य पुंसो-
मुक्तिद्वारं परिदृढ़-महामोह-मुद्रा-कवाटम्॥१३॥

अन्वयार्थ—हे नाथ **(शुद्धे ज्ञाने)** शुद्ध ज्ञान और **(शुचिनि चरिते)** निर्मल चारित्र के **(सतिअपि)** रहते हुए भी **(चेत्)** यदि **(त्वयि)** आपके विषय में होने वाली **(इयम्)** यह **(अनीचा भक्तिः)** उत्कृष्ट भक्तिरूपी **(अनवधिसुखा-वञ्चिका)** असीम सुख प्राप्त कराने वाली **(कुञ्चिका)**

कुञ्जी–चाबी **(नो चेत्)** नहीं होवे, तो **(हि)** सचमुच में **(मुक्तिकामस्य पुंसः)** मोक्ष के अभिलाषी पुरुष के **(परिदृढमहामोहमुद्राकवाटम्)** अत्यन्त मजबूत महामोह रूपी मुहरबन्द ताले से युक्त हैं किवाड़ जिसमें ऐसे **(मुक्तिद्वारम्)** मोक्ष के द्वार को **(कथम्?)** किस तरह **(शक्योद्घाटम्)** खोला जा सकता है? अर्थात् नहीं खोला जा सकता।

टीका—भो देव! शुद्धे ज्ञाने शुचिनि–निरतिचारे–पवित्रे चरिते आचरणे सत्यपि चेद्यपि त्वयि परमेश्वरे इयं अनीचा प्रबला भक्तिर्नो नैव, हि निश्चितं तर्हि मुक्तिकामस्य पुंसः मुमुक्षोः पुरुषस्य मुक्तेः द्वारं शक्योद्धाटं कथं भवति? शक्यः उद्धाटो यस्य तत्! मुक्तिं कामयतीति मुक्तिकामः तस्य मुक्ति कामस्य। कथम्भूतं मुक्तेर्द्वारं? परिदृढा निश्चला महामोहो मिथ्यात्वं तल्लक्षणमुद्रा ययोस्तौ एवं विधौ कपाटौ स एव कवाटं यस्मिन् तत्। कथम्भूता भक्तिः? कुञ्चिका। मुद्रा द्विधाकर्त्री पुनः अनवधि निर्मर्यादं यत् सुखं तस्य अवञ्चिका–अप्रतारिणी।

भावार्थ—भगवन्! आपकी भक्ति ही तो सम्यग्दर्शन है जो कि अनन्त सुखों का कारण है और मुक्तिमन्दिर के द्वार पर लगे हुए मिथ्यात्व रूपी ताले को खोलने के लिए कुंजी–चाबी की तरह है। जब–तक यह भक्तिरूप सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता तब तक ज्ञान और चारित्र के रहते हुए भी मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता।

आपकी मोक्षमार्ग प्रदर्शक : भारती

प्रच्छन्नः खल्वय–मघ–मयै–रन्धकारैः समन्तात्–
पन्था मुक्तेः स्थपुटित–पदः क्लेश–गर्तैरगाधैः।
तत्कस्तेन व्रजति सुखतो देव! तत्त्वावभासी,
यद्यग्रेऽग्रे न भवति भवद्–भारतीरत्न–दीपः॥१४॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे स्वामिन्! **(खलु)** निश्चय से **(अयम्)** यह **(मुक्तेः पन्थाः)** मोक्ष का मार्ग **(अघमयैः अन्धकारैः)** पापरूपी अन्धकार के द्वारा **(समन्तात्)** सब ओर से **(प्रच्छन्नः)** ढका हुआ है और **(अगाधैः)** गहरे **(क्लेशगर्तैः)** दुःखरूपी गड्ढों से **(स्थपुटितपदः)** ऊँचे–नीचे स्थान वाला **(यदि)** अगर **(तत्त्वावभासी)** सप्ततत्त्वों को प्रकाशित करने वाला

(भवद्भारती-रत्नदीपः) आपकी दिव्यध्वनिरूपी रत्नों का दीपक **(अग्रे-अग्रे)** आगे-आगे **(न भवति)** न होता **(तत्)** तो **(तेन)** उस मार्ग से **(कः)** कौन मनुष्य **(सुखतः)** सुखपूर्वक **(व्रजति)** गमन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं।

टीका—भो देव! खलु निश्चितं अयं मुक्तेः पंथाः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-लक्षणो मोक्षमार्गः अघमयैरन्धकारैः मिथ्यात्वलक्षणैः स्तिमिरैः समंतात् सर्वतः प्रच्छन्नः आच्छादितः। पुनः मुक्तेः पथा अगाधेः अतुलस्पर्शैः क्लेश-गर्तैर्नरकादि दुःखैः कृत्वा स्थपुटितपदः विद्यते। स्थपुटितानि उच्चनीचानि पदानि पादरोप्रणस्थानानि यस्मिन् सः। तत्तस्मात् कारणात् तेन दुरुत्तरेण-मोक्षमार्गेण सुखतः सुखेनैव कः पुमान् ब्रजति यातीतिभावः। कुतः यदि चेत् भवद्भारती रत्नदीपः तव दिव्यभाषाः अप्रतिहत रत्न प्रभादीपः अग्रे अग्रे न भवति। भवतो जिनेन्द्रस्य भारती भवद्भारती सैव रत्नदीपः भवद्भारतीरत्नदीपः। कथम्भूतः भवद्भारतीरत्नदीपः? तत्त्वैः सप्ततत्त्वैः अवभासतेऽसौ तत्त्वावभासी।

भावार्थ—जिस मार्ग में खूब अँधेरा हो और गहरे गड्ढों से जहाँ ऊँची नीची जमीन हो उस मार्ग में जैसे कोई दीपक की सहायता के बिना सुखपूर्वक नहीं जा सकता इसी तरह मुक्ति के दुर्गम मार्ग में भी आपकी दिव्य ध्वनि रूपी दीपक की सहायता के बिना कोई सुख से नहीं जा सकता। श्लोक का सार यह है कि मोक्ष की प्राप्ति आपके उपदेश से ही हो सकती है।

आत्म सम्पदा : पवित्र स्तवन से

आत्मज्योति - र्निधि - रनवधि - र्द्रष्टुरानन्दहेतुः
कर्मक्षोणीपटलपिहितो योऽनवाप्यः परेषाम्।
हस्ते कुर्वन्त्यनतिचिरतस्तं भवद्भक्तिभाजः
स्तोत्रैर्बन्ध-प्रकृति- परुषोद्दाम-धात्री-खनित्रैः॥१५॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र! **(आत्मज्योतिर्निधिः)** यह आत्मज्ञानरूप सम्पत्ति **(कर्मक्षोणीपटलपिहितः)** ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मरूप पटलों से

आच्छादित है–ढकी हुई है और **(यः द्रष्टुः आनन्दहेतुः)** जो ज्ञानी पुरुष को आनन्द का कारण है इसलिए **(परेषां अनवाप्यः)** मिथ्यादृष्टियों के द्वारा अप्राप्त है, उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती। किन्तु **(भवद्भक्तिभाजः)** आपकी भक्ति करने वाले भव्य पुरुष **(तं)** उस आत्म ज्ञानरूप सम्पत्ति को **(बन्ध-प्रकृतिपरुषोद्दामधात्री खनित्रैः)** प्रकृति–स्थिति–अनुभाग और प्रदेशबन्धरूप अत्यन्त कठोर भूमि को खोदने के लिए कुदाली स्वरूप **(स्तोत्रैः)** आपके स्तवनों के द्वारा **(अनतिचिरतः)** शीघ्र ही **(हस्ते कुर्वन्ति)** अपने हाथ में कर लेते हैं–उसे प्राप्त कर लेते हैं।

टीका—हे देव! यः आत्मज्योतिर्निधिः अनवधिर्वर्तते। आत्मज्योति-रेवनिधिः आत्मज्योतिर्निधिः। न विद्यते अवधिः मर्यादा यस्य सः लोकालोक व्यापक इत्यर्थः। कीदृशः आत्मज्योतिर्निधिः? द्रष्टुः पुरुषस्य आनन्दहेतुः पश्यतीति दृष्टा तस्य द्रष्टुः, आनन्दस्यहेतुः कारणं। पुनः कर्माण्येव क्षोणी पटलानि कर्मक्षोणिपटलानि तैः पिहितः आच्छादितः। पुनः परेषां प्राणिनां अनवाप्यः–अवाप्यतेऽसौ अवाप्यः न अवाप्यः अनवाप्यः। भो देव! भवद्भक्ति–भाजः पुमांसः तं आत्मज्योतिर्निधिं स्तोत्रैः कृत्वा अनति चिरतः स्वकल्प–काले नेवहस्ते कुर्वन्ति भवतः परमेश्वरस्य भक्तिं भजते ते भक्तिभाजः। कथंभूतैः स्तोत्रैः? बन्धः प्रकृतयः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशा बन्धप्रकृतयः एव पुरुषाः कठिनाः उद्दामाः उत्कटाः या धरित्र्यः। खनित्राणि कुद्दालानि तैः स्तोत्रर्बन्ध–प्रकृतिपुरुषोद्दामधात्रीखनित्रैः।

भावार्थ—जैसे जमीन में गढ़ा हुआ धन कुदाली के बिना प्राप्त नहीं हो सकता, उसी तरह कर्मरूपी परदे के भीतर छुपा हुआ आत्मज्ञान आपके स्तोत्रों के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। जब आपकी स्तुति से कर्मों का पटल क्षीण होगा, तभी आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं।

मोक्ष समुद्र तक लम्बी

प्रत्युत्पन्ना नय-हिमगिरेरायता चामृताब्धेः,
या देव त्वत्पद-कमलयोः सङ्गता भक्ति-गङ्गा।
चेतस्तस्यां मम रुचि-वशादाप्लुतं क्षालितांहः
कल्माषं यद् भवति किमियं देव! सन्देहभूमिः॥१६॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे नाथ! **(नयहिमगिरेः)** स्याद्वाद नयरूप हिमालय पर्वत से **(प्रत्युत्पन्ना)** उत्पन्न हुई **(च)** और **(अमृताब्धेः)** मोक्षरूपी समुद्र तक **(आयता)** लम्बी **(या)** जो यह **(त्वत्पदकमलयोः)** आपके चरण कमल सम्बन्धी **(भक्तिगङ्गा)** भक्तिरूपी गंगानदी **(सङ्गता)** प्राप्त हुई है **(तस्यां)** उसमें **(रुचिवशात्)** प्रेम के वश **(आप्लुतम्)** डूबा हुआ **(मम)** मेरा **(चेतः)** मन **(यत्)** जो **(क्षालितांहः कल्माषं)** जिसकी पापरूपी कालिमा धुल गई है—ऐसा पापरूपी रज से रहित **(भवति)** हो जाता है। **(देव!)** हे नाथ! **(इयम्)** यह **(किम्)** क्या कोई **(सन्देहभूमिः)** सन्देह का स्थान है? अर्थात् नहीं है।

टीका—हे देव! या प्रसिद्धाभक्ति गङ्गा भवद्भक्ति स्वर्धुनी नयहिमगिरेः स्याद्वादनयरूप हिमपर्वतात् प्रत्युत्पन्नाऽस्ति। नय एव हिमगिरिः हिमाचलस्तस्मात् भक्तिरेव गङ्गा भक्तिगङ्गा कथम्भूता गङ्गा। च पुनः अमृताब्धेः मोक्षसागरस्य आयता मिलिता। च पुनः या गङ्गा त्वत्पदकमलयोः तवचरणकमलयोः सङ्गता आश्रिता। तवपदकमले त्वत्पदकमले तयोः। तस्यां गङ्गायां मम चेतो ममान्तः करणं रुचिवशात् स्नेहयोगात् आलुप्तं स्नातमित्यर्थः। यदन्तः करणं क्षालितांहः भवति। इयं किं सन्देह भूमिः सन्देह स्थानं? क्षालितं अहः कल्माषं पापरजो यस्य तत् सन्देहभूमिः।

भावार्थ—गंगा नदी हिमालय पर्वत से प्रकट हुई है और समुद्र पर्यन्त लम्बी है तथा अन्य मत के पुराणों में प्रचलित है कि वह विष्णु के चरणों में भी आकर मिली थी। गंगा नदी में स्नान करने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है-उसके सब पाप धुल जाते हैं यह भी अन्य मत में प्रसिद्ध है। कवि ने इस अन्य मत प्रसिद्ध बात को यहाँ रूपक अलंकार से वर्णन किया है। भगवन्! मेरी जो आपमें भक्ति पैदा हुई है वह आपके सुन्दर अनेकांतरूप नय को देखकर ही हुई है और वह भक्ति तब तक रहेगी जब तक अमृत-मोक्ष की प्राप्ति न हो जायेगी तथा वह भक्ति हमेशा आपके चरण-कमलों में रहती है। इस तरह नयरूप हिमालय से निकली और मोक्षरूप समुद्र तक लम्बी तथा आपके चरणों में आश्रय पाने वाली भक्तिरूप गंगा नदी में नहाने वाला मेरा मन सब पापरूप मैल को धोकर यदि शुद्ध हो जावे तो

इसमें क्या सन्देह है? श्लोक का सार यह है कि चित्त की शुद्धि आपकी भक्ति से ही होती है।

अभिमत फल प्रदाता

प्रादुर्भूत-स्थिर - पद -सुखं! त्वामनुध्यायतो मे
त्वय्येवाहं स इति मतिरुत्पद्यते निर्विकल्पा।
मिथ्यैवेयं तदपि तनुते तृप्ति-मभ्रेषरूपाम्
दोषात्मानोऽप्यभिमतफलास्त्वत्प्रसादाद् भवन्ति॥१७॥

अन्वयार्थ—(प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख!) जिनके स्थायी सुख प्रकट हुआ है ऐसे (हे वीतरागदेव) **(त्वाम अनुध्यायत: मे)** आपका बार-बार ध्यान करने वाले मेरे हृदय में **(त्वयि)** आपमें अथवा आपके विषय में **(अहं स: एव)** जो आप हैं वही मैं हूँ **(इति)** ऐसी जो **(निर्विकल्पा)** विकल्प रहित **(मति:)** बुद्धि **(उत्पद्यते)** उत्पन्न होती है यद्यपि **(इयम् मिथ्या एव)** यह बुद्धि असत्य ही है **(तदपि)** तो भी **(अभ्रेषरूपां तृप्तिं)** निश्चल अविनाशी सन्तोष सुख को **(तनुते)** विस्तृत करती है। सच है **(त्वत्प्रसादात्)** आपके प्रसाद से **(दोषात्मान: अपि)** सदोषी पुरुष भी **(अभिमतफला:)** इच्छित फल को प्राप्त **(भवन्ति)** होते हैं।

टीका—भो देव! प्रादुर्भूतं प्रकटीभूतं स्थिरपदसुखं मोक्षपदस्य सुखं यस्य स तस्यामन्त्रणे प्रादुर्भूतस्थिरपदसुखं मे ममत्वयि विषये। स अहमेव इतिमति: उत्पद्यते। कथम्भूतस्य मे? त्वामनुध्यायत: अनुध्यायतीति अनुध्यायन् तस्य। कीदृशी मति:? निर्विकल्पा नि:सन्देहा इत्यर्थ:। विकल्पा निष्कान्ता-निर्विकल्पा। तदपि चेत् इयं मति: अभ्रेषरूपां तृप्तिं निश्चलरूपां तृप्तिं मिथ्यैव तनुते विस्तारयते। दोषात्मानोऽपि पुमान्स: त्वत्प्रसादात् तवप्रसादात: अभिमत-फला: भवन्ति। अभिमतं फलं येषां ते।

भावार्थ—भगवन्! जब मैं आपका ध्यान करता हूँ तब मै अपने आपको भूल जाता हूँ और यह समझने लगता हूँ कि आप जिस रूप हैं उसी रूप मैं भी हूँ (द्रव्य दृष्टि से) आपमें और मुझमें कुछ भी अन्तर नहीं है। यद्यपि मेरी यह समझ (पर्यायदृष्टि से) झूठ है। क्योंकि आप अविनाशी

सुख को प्राप्त हैं और मैं संसार में जन्म मरण के दुःख उठा रहा हूँ। फिर भी वह मुझे आत्मा के स्वभाव का बोधकर अविनाशी सन्तोष प्राप्त करा देती है। अर्थात् मुझे यह जानकर सन्तोष होता है कि मैं भी आपके ही समान अनंत-सुखरूप हूँ। भले ही वर्तमान में दुःख उठा रहा हूँ, किन्तु कारण मिलने पर एक दिन आप जैसा हो सकता हूँ। आपके ध्यान के पहले मुझे अपने असली स्वरूप का पता नहीं था, इसलिए निरन्तर दुखी रहता था। प्रभो! मेरी वह सदोष बुद्धि भी मुझे जो इच्छित फल दे सकी यह आपका ही प्रसाद है।

सप्तभंग रूप लहर

मिथ्यावादं मल - मपनुदन् - सप्तभङ्गीतरङ्गैः-
वागम्भोधिर्भुवनमखिलं देव ! पर्येति यस्ते।
तस्यावृत्तिं सपदि विबुधाश्चेतसैवाचलेन,
व्यातन्वन्तः सुचिर-ममृता-सेवया तृप्नुवन्ति॥१८॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे स्वामिन्! **(ते)** आपका **(यः)** जो **(वागम्भोधिः)** दिव्यध्वनिरूपी समुद्र **(सप्तभङ्गीतरङ्गैः)** सप्तभंग रूप लहरों के द्वारा [स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य] **(मिथ्यावादं मलं)** सर्वथा एकान्त कदाग्रह मिथ्यात्वरूप मल को **(अपनुदन्)** हटाता हुआ **(अखिलं भुवनं)** समस्त संसार को **(पर्येति)** घेरे हुए हैं—समस्त संसार में व्याप्त है। **(विबुधाः)** देव अथवा बुद्धिमान **(चेतसा एव अचलेन)** मनरूपी मन्दारगिरि के द्वारा **(तस्य)** उस वचनरूप समुद्र का **(आवृत्तिम्)** मन्थन क्रिया अथवा बार-बार अभ्यास को **(व्यातन्वन्तः)** विस्तृत करते हुए **(सपदि)** शीघ्र ही **(अमृतासेवया)** अमृत के सेवन से—मोक्ष प्राप्ति से **(सुचिरं)** चिरकाल तक **(तृप्नुवन्ति)** संतुष्ट हो जाते हैं।

टीका—हे देव! यः ते तव वागम्भोधिः भवद्दिव्यध्वनिसागरः अखिलं भवनं पर्येति-व्याप्नोति! वाक् एव अम्भोधिः वागम्भोधिः। कीदृशः

वागम्भोधिः? सप्तभङ्गीतरङ्गैः कृत्वा मिथ्यावादं मलं अपनुदन् स्फोटयन्। सप्तभंग्या एव तरङ्गाः सप्तभंगीतरङ्गः तैः सप्तभङ्गीतरङ्गैः। विबुधा विबुधाजनाः सपदि शीघ्रं चेतसा एव अचलेन मनः एवं पर्वतेन कृत्वा तस्य वागम्भोधेः आवृत्तिं मन्थनं व्यातन्वन्तः सन्तः सुचिरं चिरकालं अमृतसेवया तृप्नुवन्ति। अमृतं पीयूषं पक्षे मोक्षस्तत् आसेवा तया।

भावार्थ—लोक में प्रसिद्ध है कि एक बार देवों ने मन्दरगिरि को मथानी और शेषनाग को मन्थन नेत्र-कढ़निया बनाकर समुद्र को मथा था। उससे चौदह रत्न निकले थे। उनमें अमृत भी एक रत्न था। देवलोग उस अमृत को पीकर हमेशा के लिए सन्तृप्त हो गये थे। कवि ने इस श्लोक के विबुध, आवृत्ति और अमृत शब्द के श्लेष तथा वचन-समुद्र और चित्त-अचल के रूपक से इसी प्रसिद्ध बात को निरूपण किया है। विबुध के दो अर्थ हैं-देव और विद्वान्। आवृत्ति के दो अर्थ हैं—मन्थन और बारबार अभ्यास। इसी तरह अमृत शब्द के भी दो अर्थ हैं—सुधा और मोक्ष हे भगवन्! जिस तरह देव लोग मन्दरगिरि के द्वारा समुद्र को मथकर अमृतपान करने से सन्तुष्ट हो गये थे, उसी तरह विद्वान् भी अपने मनसे आपके उपदेश का बारबार अभ्यास कर मुक्त हो हमेशा के लिए सन्तुष्ट हो जाते हैं-अनन्त सुख सहित हो जाते हैं।

सर्वांग सुन्दर : प्रभु हमारे

आहार्य्येभ्यः स्पृहयति परं यः स्वभावादहृद्यः,
शस्त्र-ग्राही भवति सततं वैरिणा यश्च शक्यः।
सर्वाङ्गेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्यः परेषां,
तत्किं भूषावसनकुसुमैः किञ्च शस्त्रैरुदस्त्रैः॥१९॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! **(यः)** जो **(स्वभावात्)** स्वभाव से **(अहृद्यः स्यात्)** अमनोज्ञ-कुरूप होता है **(स एव)** वह ही **(आहार्य्येभ्यः)** वस्त्राभूषणादि के द्वारा शरीर को अलंकृत करने की **(स्पृहयति)** इच्छा करता है। **(च)** और **(यः)** जो **(वैरिणा)** शत्रु के द्वारा **(शक्यः)** जीतने योग्य होता है, वही **(शस्त्रग्राही भवति)** शस्त्रों को ग्रहण करने वाला

होता है-उसे ही त्रिशूल-गदा-भाला-बरछी-तलवार आदि शस्त्रों की आवश्यकता होती है-किन्तु हे भगवन्! **(त्वम्)** आप **(सर्वाङ्गेषु सुभगः असिः)** सर्वांग रूप से सुन्दर हो, और **(त्वं परेषां न शक्यः)** न आप शत्रुओं के द्वारा जीते जा सकने योग्य हो, **(तत्)** इस कारण **(तव)** आपको **(भूषावसनकुसुमैः)** आभूषण, वस्त्र तथा फूलों से **(च)** और **(उदस्त्रैः अस्त्रैः किं)** ऊपर उठाये हुए अस्त्र-शस्त्रों से क्या प्रयोजन है?

टीका—भो देव! यः कश्चित् परोदेवः स्वभावात् निसर्गेण अहृद्यः अमनोज्ञः कुरूपः स आहार्य्येभ्यः शृङ्गारेभ्यः स्पृहयति वाञ्छति नान्यः, च पुनः भो देव! यः कश्चित् वैरिणा शक्यो भवति स पुमान् सततं निरन्तरं शस्त्रग्राही भवति। शस्त्राणि गृह्यातीति शस्त्रग्राही। नान्यः। हे देव! त्वं सर्वाङ्गेण सुभगः असि। सर्वशरीरेण सुन्दरोऽसि। पुनः त्वं वैरिणां शक्योपि न। परेणां बाह्यांतर वैरिणां कदापि जेतुं न शक्यः। तत्र तस्मात् कारणात् स्वभावसौन्दर्यालंकृतस्य तव भूषा वसनकुसुमैः किं प्रयोजनं? शृङ्गार पट्टकूलमाल्यादिभिः किंनिमित्तं? भूषाश्च वसनानि च कुसमानि च तैः भूषावसनकुसुमैः। च पुनः निर्वैरिणस्तव उदस्त्रैः शस्त्रैः किं प्रयोजनं? अपि तु न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः।

भावार्थ—संसार के अन्य देवी-देवता, तरह-तरह के आभूषण और कपड़े वगैरह पहिनते हैं तथा कई प्रकार के तीक्ष्ण त्रिशूल, गदा, कृपाण आदि हथियार धारण करते हैं उसका कारण है कि वे स्वभाव से कुरूप हैं और उन्हें शत्रु से भय बना रहता है। पर आपका जन्म से ही अतिशय रूप होता है। आप अत्यन्त सुन्दर हैं और अनन्त बल से सहित तथा द्वेष आदि से रहित होनेके कारण आपको शत्रुओं का डर नहीं है इसलिए आप न गहना पहनते हैं न कपड़े धारण करते हैं और न हथियार ही लिए हैं। श्लोक का सार यह है कि आप वीतराग-रागद्वेष से रहित हैं।

पुण्य प्रदायी : जिनवर सेवा

इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते,
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघ्यता-मातनोति।

त्वं निस्तारी जनन-जलधेः सिद्धिकान्तापतिस्त्वं,
त्वं लोकानां प्रभुरिति तव श्लाघ्यते स्तोत्रमित्थम्॥२०॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र! **(इन्द्रः)** इन्द्र **(तव)** आपकी **(सेवाम्)** सेवा को **(सुकुरुताम्)** अच्छी तरह से करे, **(तया)** उसके द्वारा **(ते)** आपकी **(किं श्लाघनं)** क्या प्रशंसा है? **(इयम्)** यह सेवा तो **(तस्य एव)** उस इन्द्र की ही **(भवलयकरी)** संसार परिभ्रमण का नाश करने वाली **(श्लाघ्यताम्)** प्रशंसा को **(आतनोति)** विस्तृत करती है **(त्वं)** आप **(जननजलधेः)** संसार-समुद्र से **(निस्तारी)** तारने वाले हैं तथा **(त्वं)** आप **(सिद्धिकान्ता पतिः)** मुक्तिरूपी स्त्री के स्वामी हैं और **(त्वं)** आप **(लोकानां)** तीनों लोकों के **(प्रभुः)** निग्रह—अनुग्रह में समर्थ हैं, **(इत्थम्)** इस प्रकार **(इति)** यह **(तव)** आपका **(स्तोत्रम्)** स्तोत्र—स्तवन **(श्लाघ्यते)** प्रशंसनीय है।

टीका—भो देव! इन्द्रः तव भगवतः सेवां सुकुरुतां तया सेवया ते तव किं श्लाघनं प्रशंसनं अपितु न। तस्येन्द्रस्य इयमेव सेवा श्लाघ्यतां प्रशंसतां आतनोति विस्तारयति। कथंभूतेयं (सेवां?) भवलयकारी भवः संसार-स्तस्यलयो नाशस्तं करोति। भो देव! इतिकारणात् तव स्तोत्रम् इत्थं श्लाघ्यते। इतीति किं यतः कारणात् त्वं जननजलधेः संसारसमुद्रात् निस्तारीं वर्तसे च पुनः त्वं सिद्धिकान्तापतिः, त्वं लोकानां प्रभुः, जननमेवजलधिः तस्मात्, सिद्धिकान्तायाः पतिः सिद्धिकान्तापतिः।

भावार्थ—भगवन्! कई मनुष्य आपकी स्तुति करते हैं कि—"आप इन्द्रों के द्वारा सेवनीय हैं" सो उनकी यह स्तुति ठीक नहीं है। क्योंकि तुच्छ जीव तो महापुरुषों की सेवा करते ही हैं उसका वर्णन करने से महापुरुषों की प्रशंसा नहीं होती। बल्कि सेवा करने वालों की प्रशंसा होती है कि वे किसी महापुरुष के सेवक हैं। हाँ! इस प्रकार आपका स्तवन किया जा सकता है कि आप जीवों को संसार-समुद्र से तारने वाले हैं, मुक्ति स्त्री के स्वामी है और तीनों लोकों के प्रभु हैं।

कल्पवृक्ष सम फल प्रदाता

वृत्तिर्वाचामपर - सदृशी न त्वमन्येन तुल्यः,
स्तुत्युद्गाराः कथमिव ततः त्वय्यमी नः क्रमन्ते।
मैवं भूवंस्तदपि भगवन्-भक्ति-पीयूष-पुष्टास्-
ते भव्यानामभिमत-फलाः पारिजाता भवन्ति॥२१॥

अन्वयार्थ—(भगवन्!) हे स्वामिन्! **(वाचां वृत्तिः)** आपके वचनों की प्रवृत्ति **(अपरसदृशी न)** दूसरे के समान नहीं है **(न त्वं अन्येना तुल्यः)** न आप भी अन्य के सदृश हैं **(ततः)** इसलिए **(नः)** हमारे **(अमी)** ये **(स्तुत्युद्गाराः)** स्तुति-वाक्य **(त्वयि)** आपके विषय में **(कथं इव)** किस तरह **(क्रमन्ते)** संगत हो सकते हैं—पहुँच सकते हैं **(तदपि)** तो भी **(भक्तिपीयूषपुष्टाः)** भक्तिरूपी अमृत से परिपुष्ट हुए **(ते)** वे स्तुति के वाक्य **(भव्यानाम्)** भव्यजीवों के लिए **(अभिमतफलाः)** इच्छित फल के देने वाले **(पारिजाताः)** कल्पवृक्ष **(भवन्ति)** होते हैं।

टीका—भो भगवन्! वाचां वृत्तिर्वाग्विलासः अपरसदृशी (अपरेण-सदृशी अपरसदृशी) त्वम् अनुपमानः। त्वं देवः अन्येन न तुल्योऽसि, अनुपमोऽसि। ततस्तस्मात्कारणात् नोऽस्माकं अमीस्तुत्युद्गाराः त्वयि विषये कथमिव क्रमन्ते। अस्माकं स्तुतिविलासः कथमिव तुभ्यं रोचन्ते। एवं यद्यपि वर्तते, तदपि एवं मा अभूवन्। ते भक्तिपीयूषपुष्टाः स्तुत्युद्गाराः भव्यानां अभिमतफलाः पारिजाताः मनोऽभीष्टफलाः कल्पवृक्षाः भवन्ति। भक्तिरेव पीयूषं भक्ति पीयूषं तेन पुष्टाः अभिमतं फलं येषां ते।

भावार्थ—भगवन्! जब आपके वचन अनुपम हैं और आप स्वयं भी उपमारहित हैं तब ''आपके वचन दीपक के समान हैं, अथवा आप अमुक पदार्थ के समान हैं'' इस प्रकार की स्तुति आपके विषय में कैसे लागू हो सकती है। परन्तु भक्तिमार्ग में इस बात का विचार नहीं किया जाता। भक्ति के कारण भव्यों के वे मिथ्या उद्गार भी कल्पवृक्ष की तरह मनोवाञ्छित फल देते हैं।

अतुलनीय प्रभावक

कोपावेशो न तव न तव क्वापि देव! प्रसादो,
व्याप्तं चेतस्तव हि परमोपेक्षयैवानपेक्षम्।
आज्ञावश्यं तदपि भुवनं सन्निधि-वैर-हारी,
क्वैवंभूतं भुवन-तिलक! प्राभवं त्वत्परेषु॥२२॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे नाथ! **(तव)** आपका **(क्वापि)** किसी पर भी **(कोपावेशः)** क्रोधभाव **(न अस्ति)** नहीं है और **(न तव)** न आपकी **(क्वापि)** किसी पर **(प्रसादो)** प्रसन्नता है **(हि)** निश्चय से **(अनपेक्षम्)** स्वार्थरहित **(तव)** आपका **(चेतः)** मन **(परम उपेक्षया एव)** अत्यन्त उदासीनता से ही **(व्याप्तम्)** व्याप्त है **(तदपि)** तो भी **(भुवनं)** संसार **(आज्ञावश्यं)** आपकी आज्ञा के आधीन है और आपकी **(सन्निधिः)** समीपता/निकटता **(वैरहारी)** परस्पर के वैर-विरोध को हरने वाली है और इस तरह **(भुवनतिलक!)** तीनों लोकों में श्रेष्ठ हे देव! **(एवम्भूतं)** ऐसा **(प्राभवं)** प्रभाव **(त्वत्)** आपसे **(परेषु)** भिन्न—दूसरे हरि-हरादिक देवों में **(क्व भवेत्?)** कहाँ हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

टीका—हे देव! तव परमेश्वरस्य क्वापि कोपावेशो न, क्रोधप्रवेशो न वर्तते। कोपस्य आवेशः कोपावेशः। भो देव! क्वापि प्रसादो न, प्रसन्नतापि न। हि निश्चितं तव चेतः परमोपेक्षया एव व्याप्तं। परमा चासौ उपेक्षाबुद्धिश्च परमोपेक्षा तया परमोपेक्षया इत्थम्भूतं चेतः? न विद्यते अपेक्षा वाञ्छा यस्य तत्। एवं यद्यप्यस्ति तदपि भुवनं आज्ञावश्यं विद्यते। आज्ञयैव वश्यं आज्ञावश्यं। यद्यपि तव क्वापि प्रसादो न, तदपि तव सन्निधिर्वैरहारी वर्तते। भो भुवनतिलक! एवम्भूतं प्राभवं त्वत्परेषु हरिहरादिषु देवेषु प्राभवं प्रभुत्वं क्वास्ति? न क्वाप्यतीत्यर्थः। भुवनस्य तिलकः भुवनतिलकस्तस्यामन्त्रणे हे भुवन तिलक! त्वत्तः परे त्वत्परे तेषु त्वत्परेषु।

भावार्थ—भगवन्! आप राग द्वेष दोनों से रहित हैं, आपका चित्त बिलकुल निरपेक्ष है, फिर भी संसार आपकी आज्ञा में चलता है और आपकी समीपता सबके वैर को दूर कर देती है। आप जैसा यह विलक्षण

प्रभुत्व संसार के दूसरे प्रभुओं में नहीं पाया जाता। आप अनोखे स्वामी हो।

क्षेम पद प्रदाता

देव! स्तोतुं त्रिदिवगणिका-मण्डलीगीत-कीर्तिं,
तोतूर्ति त्वां सकल-विषय-ज्ञान-मूर्तिं जनो यः।
तस्य क्षेमं न पदमटतो जातु जोहूर्ति पन्था-
स्तत्त्वग्रन्थ-स्मरण-विषये नैष मोमूर्ति मर्त्यः॥२३॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे देव! **(त्रिदिवगणिका-मण्डलीगीत-कीर्तिं)** स्वर्ग की अप्सराओं के समूह द्वारा जिनकी कीर्ति गाई गई है, ऐसे तथा **(सकल-विषयज्ञानमूर्तिः)** समस्त पदार्थों को विषय करने वाले ज्ञान की मूर्ति स्वरूप **(त्वां)** आपकी **(स्तोतुं)** स्तुत करने के लिए **(यः जनः)** जो मनुष्य **(तोतूर्तिः)** शीघ्रता करता है वह **(क्षेमं पदं अटतः)** कल्याणकारी स्थान अर्थात् मोक्ष को जाते हुए **(तस्य)** उस मनुष्य का **(पन्थाः)** मार्ग **(जातु)** कभी भी **(न जोहूर्ति)** कुटिल नहीं होता और **(न एषः मर्त्यः)** न यह मनुष्य **(तत्त्वग्रन्थ-स्मरणविषये)** तत्त्व ग्रन्थों के स्मरण के विषय में **(मोमूर्ति)** मूर्च्छित होता है।

टीका—भो देव! यः जनः त्वां परमेश्वरं स्तोतुं तोतूर्ति त्वरितो भवति कथम्भूतं त्वां? त्रिदिव गणिकामंडलीगीतकीर्तिः त्रिदिवस्य स्वर्गस्यगणिका अप्सरसोऽनीकिन्यो वा तासां मण्डली तथा गीता कीर्तिर्यस्य स तं पुनः कथम्भूतं? यः सकलविषयज्ञानमूर्तिः सकलविषयं लोकाऽलोकाकाश-विषय यत् ज्ञानं तस्य मूर्तिः। तस्य पुरुषस्य जातु कदाचित् पन्थाः मोक्षमार्गः न जोहूर्ति न कुटिलो भवति। कथम्भूतस्य तस्य? क्षेमपदं मोक्षस्थानं अटतः व्रजतः। एषः मर्त्यः तत्त्वग्रन्थस्मरणविषये न मोमूर्ति न सन्देह प्राप्नोति। तत्त्वग्रंथस्य स्मरणं तस्य विषयस्तस्मिन्।

भावार्थ—हे भगवन्! जो आपकी स्तुति करने के लिए तत्पर होता है उसकी स्वर्ग-मोक्ष यात्रा में कोई बाधा नहीं आती और वह तात्त्विक ग्रन्थों का महान् पण्डित बन जाता है।

पञ्चकल्याणक पद प्रदायी

चित्ते कुर्वन् निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं,
देव! त्वां यः समय - नियमादादरेण स्तवीति।
श्रेयोमार्गं स खलु सुकृति तावता पूरयित्वा,
कल्याणानां भवति विषयः पञ्चधापञ्चितानाम्॥२४॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे जिनेन्द्र! **(यः)** जो मनुष्य **(निरवधि-सुख-ज्ञानदृग्वीर्यरूपम्)** अनन्तसुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य स्वरूप **(त्वाम्)** आपको **(चित्ते कुर्वन्)** मन/हृदय में धारण करता हुआ **(समय-नियमात्)** समय के नियम से अर्थात् निश्चित समय तक **(आदरेण)** विनयपूर्वक **(स्तवीति)** आपकी स्तुति करता है। **(खलु)** निश्चय से **(सः)** वह **(सुकृति)** पुण्यवान् **(तावता)** उस स्तवन मात्र से **(श्रेयोमार्गं)** मोक्षमार्ग को **(पूरयित्वा)** पूर्ण करके **(पञ्चधा पञ्चितानाम्)** पाँच प्रकार से विस्तृत **(कल्याणानाम्)** कल्याणकों का—गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाणरूप पञ्चकल्याणकों का **(विषयः भवति)** पात्र होता है।

टीका—भो देव! यः पुमान् त्वां भगवन्तं चित्ते कुर्वन् समयनियमात्-कालनियमात् आदरेणस्तवीति तोष्टवीति। समयनियमस्तस्मात्। कथम्भूतं त्वां? निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं सुखं च ज्ञानं च दृग् च वीर्यं च सुखज्ञान-दृग्वीर्याणि। निरवधीनि मर्यादारहितानि च सुखज्ञानदृग्वीर्याणि च तैः रूप्यते लक्ष्यते इति निरतं खलु निश्चितं सुकृति पुमान् तावता श्रेयोमार्गं पूरयित्वा पञ्चधा पञ्चितानां कल्याणानां विषयो स्थानं भवति। पञ्चधा पञ्चिताः विस्तृताः तेषां पञ्चधा पञ्चितानाम्।

भावार्थ—जो मनुष्य अनन्त चतुष्टय से शोभायमान आपकी हृदय से स्तुति करता है वह तीर्थंकर होकर गर्भ आदि पाँच कल्याणकों का पात्र होता है।

गुणानुराग : आत्मोन्नति साधक

भक्ति-प्रह्वमहेन्द्र-पूजित-पद! त्वत्कीर्तने न क्षमाः-
सूक्ष्म-ज्ञान-दृशोऽपि संयमभृतः के हन्त मन्दा वयम्।

अस्माभिः स्तवनच्छलेन तु परस्त्वय्यादरस्तन्यते,
स्वात्माधीनसुखैषिणां स खलु नः कल्याण-कल्पद्रुमः॥२५॥

अन्वयार्थ—(भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद!) भक्ति से नम्रीभूत इन्द्रों के द्वारा जिनके चरण पूजित हुए हैं, ऐसे हे जिनेन्द्र! **(सूक्ष्मज्ञानदृशः)** सूक्ष्मज्ञान ही जिनके नेत्र हैं, ऐसे **(संयमभृतः अपि)** तपस्वी भी अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानादि के धारक संयमी योगीश्वर भी **(त्वत्कीर्तिने)** आपके गुणगान में जब **(क्षमाः न 'सन्ति')** समर्थ नहीं हैं, तब **(हन्त)** खेद है कि **(वयं मन्दाः के)** हम जैसे मन्दबुद्धि पुरुष आपकी स्तुति करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं? **(तु)** किन्तु **(स्तवनच्छलेन)** स्तवन के छल से **(अस्माभिः)** हमारे द्वारा **(त्वयि)** आपमें **(परः)** उत्कृष्ट **(आदरः)** सम्मान **(तन्यते)** विस्तृत किया जाता है। **(खलु)** निश्चय से **(सः)** वह सम्मान ही **(स्वात्माधीनसुखैषिणां)** निजात्मा के आश्रित सुख के चाहने वाले **(नः)** हम लोगों के लिए **(कल्याणकल्पद्रुमः)** कल्याण करने वाला कल्पवृक्ष होवे।

टीका—भक्त्या प्रह्वो नम्रीभूतो यो महेन्द्र तेन पूजितपदे महेन्द्रेण पूजिते पदे चरणकमले यस्य स तस्यामन्त्रणे हे भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद! त्वकीर्त्तने तव स्तवने संयमभृतो गणधरादयोऽपि क्षमा न समर्था न। कथंभूताः संयम भृतः? सूक्ष्मज्ञान दृशः सूक्ष्मज्ञानमेव दृक् येषां ते। वयं अस्मद् विधाः मंदमेधसः के? तु पुनः अस्माभिः स्तवनच्छलेन स्तोत्रमिषेणैव त्वयि विषये आदरः तन्यते विस्तार्यते, स्तवनस्य छलं स्तवनच्छलं तेन। कीदृशः आदरः परः उत्कृष्टः खलु निश्चितं सः कल्याणकल्पद्रुमः नः अस्माकं अस्तु। कीदृशानामस्माकं? स्वात्माधीन-सुखेषिणां, स्वस्य आत्मा स्वात्मा अथवा सुष्ठु च आत्मा च स्वात्मा तदधीनां यत्सुखं तदिच्छतीति तेषां, कल्याणानां कल्पद्रुमः कल्याणकल्पद्रुमः।

भावार्थ—हे भगवन्! जब बड़े-बड़े मुनि भी आपकी स्तुति नहीं कर सकते तब हम मूर्ख कैसे कर सकेंगे? हम तो सिर्फ भक्ति से आप में आदर प्रदर्शित करते हैं और हमारा यह निश्चय भी है कि वह आदर ही हम लोगों के लिए आत्मिक सुख देने के लिए कल्पवृक्ष होगा।

[1][वादिराजमनु शाब्दिक-लोको, वादिराजमनु तार्किकसिंहः।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्य-सहायः॥]

अन्वयार्थ—(शाब्दिकलोकः) वैयाकरण–व्याकरण शास्त्र के वेत्ता **(वादिराजम् अनु)** वादिराज से हीन हैं **(तार्किकसिंहः)** श्रेष्ठ नैयायिक **(वादिराजम् अनु)** वादिराज से हीन हैं, और **(ते काव्यकृतः)** प्रसिद्ध कवि लोग **(वादिराजम् अनु)** वादिराज से हीन हैं **(भव्यसहायः)** सज्जनगण भी **(वादिराजम् अनु)** वादिराज से हीन हैं।

भावार्थ—एकीभाव स्तोत्र के रचयिता वादिराज आचार्य सबसे श्रेष्ठ वैयाकरण, नैयायिक, कवि और सहृदय पुरुष थे।

❑ ❑ ❑

१. इस श्लोक में आचार्य वादिराज की आत्म–प्रशंसा है। विदित होता है कि यह श्लोक आचार्य की विद्वत्ता पर मुग्ध हो, उनके भक्त ने रचकर स्तोत्र के नीचे लिख दिया है और वह बाद में मूल रूप में होकर स्तोत्र में शामिल कर लिया गया है।

ॐ

महाकवि धनञ्जयप्रणीतम्

विषापहारस्तोत्रम्

(उपजाति छन्द)

आप ही शरण

स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसङ्गः।
प्रवृद्धकालोप्यजरो वरेण्यः पायादपायात्पुरुषः पुराणः॥१॥

अन्वयार्थ—(स्वात्मस्थितः अपि सर्वगतः) आत्मस्वरूप में स्थित होकर भी सर्वव्यापक, **(समस्तव्यापारवेदी अपि)** सब व्यापारों के जानकार होकर भी **(विनिवृत्तसङ्गः)** परिग्रह से रहित, **(प्रवृद्धकालः अपि अजरः)** दीर्घ आयु वाले होकर भी बुढ़ापे से रहित हैं ऐसे **(वरेण्यः)** श्रेष्ठ **(पुराणः पुरुषः)** प्राचीन पुरुष—भगवान् वृषभनाथ **[नः]** हम सबको **(अपायात्)** विनाश से **(पायात्)** बचावें—रक्षित करें।

टीका—पुराणः पुरुषः श्रीमदादिब्रह्मा। अपायात् कष्टात् अव्यात्। पुरिशेतेऽसौ पुरुषः। कीदृशः पुरुषः? स्वात्मस्थितोऽपि सर्वगतः। यः स्वात्मस्थितः स सर्वगतः कथमिति शब्दतो विरोधं प्रदर्श्य अर्थतो विरोधमपहरति। स्वात्मनि अनन्तानन्तज्ञानादिलक्षणे स्वरूपे स्थितः। सर्वप्रतिगतः ज्ञानेन लोकालोकव्यापकत्वात् अस्य सर्वगतत्वं न विरुध्यते। पुनर्विनिवृत्तसङ्गोऽपि समस्त-व्यापारवेदी। यो विनिवृत्तसङ्गः स समस्त-व्यापारवेदीति कथमिति शब्दतो विरोधमुपदर्श्यार्थतो विरोधमपाकरोति। विशेषण निवृत्तः परित्यक्तः सङ्गो बहिरन्तरुपलेपो येन सः। समस्ताः सर्वे ये व्यापारा जीवपुद्गलादि-द्रव्यव्याप्रियमाणाऽनन्तगुणपर्याय-लक्षणार्थ-

क्रियादयस्तेषां वेत्ता। अथवा सम्यक्प्रकारेणास्ता निराकृता ये व्यापारा असिमषिकृषिवाणिज्यलक्षणास्तान् वेत्तीति। पुनः प्रवृद्ध-कालोऽप्यजरः। इति शब्दतो विरोधमुपदर्श्यार्थतो विरोधं परिहरति। प्रकर्षेण वृद्धः। एधितः कालः समयो यस्य सः। अनाद्यनन्तत्वात्। न विद्यते जरा यस्य सोऽजरः। जरेत्युपलक्षणं। जराजन्ममृत्युध्वन्सीत्यर्थः पुनर्वरेण्यः। वरः श्रेष्ठ इत्यर्थः। वो युष्मान् पायादिति कर्मपदमध्याहार्यम्।

भावार्थ—श्लोक में विरोधाभास अलंकार है। इस अलंकार में सुनते समय विरोध मालूम होता है पर बाद में अर्थ का विचार करने से उसका परिहार हो जाता है। देखिये-जो अपने स्वरूप में स्थित होगा वह सर्वव्यापक कैसे होगा? यह विरोध है, पर उसका परिहार यह है कि पुराण पुरुष आत्म प्रदेशों की अपेक्षा अपने स्वरूप में ही स्थित हैं पर उनका ज्ञान सब जगह के पदार्थों को जानता है। इसलिए ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत हैं। जो सम्पूर्ण व्यापारों का जानने वाला है वह परिग्रह रहित कैसे हो सकता है? यह विरोध है। उसका परिहार यह है कि आप सर्व पदार्थों के स्वाभाविक अथवा वैभाविक परिवर्तनों को जानते हुये भी कर्मों के सम्बन्ध से रहित हैं। इसी तरह दीर्घायु से सहित होकर भी बुढ़ापे से रहित हैं यह विरोध है। उसका परिहार इस तरह है कि महापुरुषों के शरीर में वृद्धावस्था का विकार नहीं होता अथवा शुद्ध आत्मस्वरूप की अपेक्षा वे कभी भी जीर्ण नहीं होते। इस तरह श्लोक में विघ्न-बाधाओं से अपनी रक्षा करने के लिए पुराण-पुरुष से प्रार्थना की गई है।

अचिन्त्य योगी

पैररचिन्त्यं युगभारमेकः स्तोतुं वहन्योगिभिरप्यशक्यः।
स्तुत्योऽद्य मेऽसौ वृषभो न भानोः किमप्रवेशे विशति प्रदीपः॥२॥

अन्वयार्थ—(परैः) दूसरों के द्वारा **(अचिन्त्यम्)** चिन्तन करने के अयोग्य **(युगभारम्)** कर्मयुग के भार को **(एकः)** अकेले ही **(वहन्)** धारण किये हुए तथा **(योगिभिः अपि)** मुनियों के द्वारा भी **(स्तोतुम् अशक्यः)** जिनकी स्तुति नहीं की जा सकती है ऐसे **(असौ वृषभः)** वे भगवान् वृषभनाथ! **(अद्य)** आज **(मे स्तुत्यः)** मेरे द्वारा स्तुति करने के

योग्य हैं अर्थात् आज मैं उनकी स्तुति कर रहा हूँ। सो ठीक है **(भानोः)** सूर्य का **(अप्रवेशे)** प्रवेश नहीं होने पर **(किम्)** क्या **(प्रदीपः)** दीपक **(न विशति)** प्रवेश नहीं करता? अर्थात् करता है।

टीका—अद्य मे ममऽसौ वृषभः श्रीमदादिब्रह्मा स्तुत्यस्तवनीयः। कृत्यानि कर्त्तरि षष्ठी चेति मे इत्यत्र षष्ठी। असौ कः? यः श्रीमदादिब्रह्मा योगिभिरपि ब्रह्मर्द्धिसम्पन्नैरपि स्तोतुमशक्यः। कीदृशोऽसौ? एकोऽसहायः सन् परैरन्यपुरुषैरचिन्त्यं मनसाप्यस्मरणीयं। कृतयुगारम्भे कल्पवृक्षाद्यभावेन जीवनोपायाभावे जिजीविषया संक्लिश्यमानप्राणिप्राणधारणोपायप्रदर्शन-स्वरूपं युगभारं वहन् धरन्। भानोः सूर्यस्याप्रवेशेऽप्रचारे प्रदीपः किं न प्रविशति? अपि तु प्रविशतीत्यर्थः।

भावार्थ—भगवन्! यहाँ जब भोगभूमि के बाद कर्मभूमि का समय प्रारम्भ हुआ था उस समय की सब व्यवस्था आप अकेले ही कर गये थे। इस तरह आप की विलक्षण शक्ति को देखकर योगी भी कह उठे थे कि मैं आपकी स्तुति नहीं कर सकता। पर मैं आज आपकी स्तुति कर रहा हूँ, इसका कारण मेरा अभिमान नहीं है, पर मैं सोचता हूँ कि जिस गुफा में सूर्य का प्रवेश नहीं हो पाता उस गुफा में भी दीपक प्रवेश कर लेता है। यह ठीक है कि दीपक सूर्य की भाँति गुफा के सब पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता, उसी तरह मैं भी योगियों की तरह आपकी पूर्ण स्तुति नहीं कर सकूँगा, फिर भी मुझ में जितनी सामर्थ्य है उससे बाज क्यों आऊँ?

मेरे स्तुत्य

तत्याज शक्रः शकनाभिमानं नाहं त्यजामि स्तवनानुबन्धम्।
स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थं वातायनेनेव निरूपयामि॥३॥

अन्वयार्थ—**(शक्रः)** इन्द्र ने **(शकनाभिमानं)** स्तुति कर सकने की शक्ति का अभिमान **(तत्याज)** छोड़ दिया था, किन्तु **(अहम्)** मैं **(स्तवनानुबन्धं)** स्तुति के उद्योग को **(न त्यजामि)** नहीं छोड़ रहा हूँ। मैं **(वातायनेन इव)** झरोखे की तरह **(स्वल्पेन बोधेन)** थोड़े से ज्ञान के द्वारा **(ततः)** उस झरोखे और ज्ञान से **(अधिकार्थम्)** अधिक अर्थ को **(निरूपयामि)** निरूपित कर रहा हूँ।

टीका—शक्रो देवेन्द्रः। स्तवनानुबन्धं स्तवनसम्बन्धिनं। शकनाभि-मानं त्वा स्तोतुमहं शक्त इत्यभिमानं। तत्याज अजहात्। अहं स्तवनानुबन्धं। शकनाभिमानं। न त्यजामि न जहामि। स्तवनस्य अनुबन्धो यस्मिन् स तं। स्वल्पेन बोधेन। ततः इन्द्रात् स्वल्पज्ञानेनाधिकार्थं प्रभूतार्थं। अहं निरूपयामि बंभणीमि। केनेव? वातायनेनेव। यथा वातायनेन गवाक्षेण अधिकार्थं स्थूलतरं गजाद्यर्थं कश्चित् निरूपयति।

भावार्थ—जिस तरह छोटे से झरोखे में झाँककर उससे कई गुणी वस्तुओं का वर्णन किया जाता है उसी तरह मैं भी अपने अल्प ज्ञान से जानकर आपके गुणों का वर्णन कर रहा हूँ। मुझे अपनी इस अनोखी सूझ पर हर्ष और विश्वास दोनों हैं। इसलिए मैं इन्द्र की तरह अपनी शक्ति को नहीं छिपाता।

वचन अगोचर

त्वं विश्वदृश्वा सकलैरदृश्यो विद्वानशेषं निखिलैरवेद्यः।
वक्तुं कियान्कीदृश इत्यशक्यः स्तुतिस्ततोऽशक्तिकथा तवास्तु॥४॥

अन्वयार्थ—**(त्वम्)** आप **(विश्वदृश्वा 'अपि')** सबको देखने वाले होकर भी **(सकलैः)** सबके द्वारा **(अदृश्यः)** नहीं देखे जाते, आप **(अशेषम् विद्वान्)** सबको जानते हैं पर **(निखिलैः अवेद्यः)** सबके द्वारा नहीं जाने जाते। आप **(कियान् कीदृशः)** कितने और कैसे हैं **(इति)** यह भी **(वक्तुम् अशक्यः)** कहने को असमर्थ हैं **(ततः)** उससे **(तव स्तुतिः)** आपकी स्तुति **(अशक्तिकथा)** मेरी असामर्थ्य की कहानी ही **(अस्तु)** हो।

टीका—भो जिन! ततः कारणात् तव भगवतः स्तुतिस्त्वमेतावान् ईदृश इति प्रमातुं न पार्यसे। यतस्ततः स्तवनकरणे अशक्तिकथा तवास्तु भूयात्। अशक्तिः अशक्या कथा यस्यां सा। हे भगवन्! त्वं विश्वदृश्वा। विश्व पश्यतीति विश्वदृश्वा, सकलजीवादिपदार्थ साक्षात् द्रष्टेत्यर्थः। त्वं सकलैरदृश्यः निरूपत्वात्। त्वमशेषं लोकालोकाकाशं विद्वान् जानन्। केवलज्ञानविराज-मानत्वात् निखिलैरवेद्यः, न वेत्तुं शक्यः त्वं कियान्

कियत्परिमाणाधिकरणः कीदृशः इति वक्तुं अशक्यः, न शक्यः अशक्यः।

भावार्थ—आप सबको देखते हैं पर आपको देखने की किसी में शक्ति नहीं है। आप सबको जानते हैं पर आपको जानने की किसी में शक्ति नहीं है। आप कैसे और कितने परिमाण वाले हैं यह भी कहने की किसी में शक्ति नहीं है। इस तरह आपकी स्तुति मानो अपनी अशक्ति की चर्चा करना ही है। इससे पहले के श्लोक में कवि ने कहा था कि आपकी स्तुति से इन्द्र ने अभिमान छोड़ दिया था पर मैं नहीं छोड़ूँगा अर्थात् मुझमें स्तुति करने की शक्ति है पर जब वे स्तुति करना प्रारम्भ करते हैं और प्रारम्भ में ही उन्हें कहना पड़ता है कि सबमें आपको देखने की, जानने की अथवा कहने की शक्ति नहीं है जिसका तात्पर्य अर्थ यह होता है कि मुझमें भी उसकी शक्ति नहीं है, तब उन्हें भी अन्त में स्वीकार करना पड़ता है कि इन्द्र ने जो शक्ति का अभिमान छोड़ा था वह ठीक ही किया था और मेरे द्वारा की गई यह स्तुति भी मेरी अशक्ति की कथा ही हो।

निःस्वार्थ बालवैद्य

व्यापीडितं बालमिवात्मदोषै- रुल्लाघतां लोकमवापिपस्त्वं।
हिताहितान्वेषणमान्द्यभाजः सर्वस्य जन्तोरसि बालवैद्यः॥५॥

अन्वयार्थ—**(त्वम्)** आपने **(बालम् इव)** बालक की तरह **(आत्मदोषैः)** अपने द्वारा किये गये अपराधों से **(व्यापीडितम्)** अत्यन्त पीड़ित **(लोकम्)** संसारी मनुष्यों को **(उल्लाघताम्)** नीरोगता **(अवापिपः)** प्राप्त कराई है। निश्चय से आप **(हिताहितान्वेषणमान्द्यभाजः)** भले-बुरे के विचार करने में मूर्खता को प्राप्त हुए **(सर्वस्य जन्तोः)** सब प्राणियों के **(बालवैद्यः)** बालवैद्य हैं।

टीका—हे ब्रह्मन्! त्वं सर्वस्य जन्तोः सकलभव्यप्राणिगणस्य। बालवैद्योऽसि बालचिकित्सोऽसि। संसारवर्त्तिनां भव्यजीवानां त्वमेव परोपकारी नान्य इति तात्पर्यार्थः। कथंभूतस्य जन्तोः मोक्षो मोक्षकारणं हितं। संसारः संसारकारणं अहितं। तयोरन्वेषणे विचारणे मान्द्यं। मन्दत्वं जडत्वं भजतीति। तस्य कुतो वैद्योऽसि? यतः कारणात् त्वदाश्रितं सर्वं

लोकमुल्लाघतां नीरोगतामबाधतां प्रापयसीत्यर्थः। कथंभूतं लोकं? आत्मदोषैः पूर्वजन्मोपार्जितकर्मभिर्व्यापीडितं-बाधितं, कमिवं? बालमिव। यथा कश्चन बालवैद्यो बालमुल्लाघतां नीरोगतां नयति। कीदृशं बालं? आत्मदोषै-र्वातादिभिर्व्यापीडितं व्याहतम्।

भावार्थ—जिस तरह बालकों की चिकित्सा करने वाला वैद्य, अपनी भूल से पैदा किये हुए वात, पित्त, कफ आदि दोषों से पीड़ित बालकों के अच्छे बुरे का ज्ञान करा कर उन्हें नीरोग बना देता है और अपने 'बाल वैद्य' इस नाम को सार्थक बना लेता है उसी तरह आप भी हित और अहित के निर्णय करने में असमर्थ बाल अर्थात् अज्ञानी जीवों के हित, अहित का बोध कराकर संसार के दुःखों से छुड़ाकर स्वस्थ बना देते हैं। इस तरह आपका भी 'बाल वैद्य' अर्थात् 'अज्ञानियों के वैद्य' यह नाम सार्थक सिद्ध होता है।

शीघ्र फल प्रदाता

दाता न हर्ता दिवसं विवस्वानद्यश्व इत्यच्युत! दर्शिताशः।
सव्याजमेवं गमयत्यशक्तः क्षणेन दत्सेऽभिमतं नताय॥६॥

अन्वयार्थ—(अच्युत!) अपने उदारता आदि गुणों से कभी च्युत न होने वाले हे अच्युत! **(विवस्वान्)** सूर्य **(न दाता 'न' हर्ता)** न देता है न अपहरण करता है सिर्फ **(अद्य श्वः)** आजकल **(इति)** इस तरह **(दर्शिताशः)** आशा [दूसरे पक्ष में दिशा को] दिखाता हुआ **(अशक्तः 'सन्')** असमर्थ होता हुआ **(एवम्)** ऐसे ही—बिना लिए दिये ही **(सव्याजम्)** कपट सहित **(दिवसम्)** दिन को **(गमयति)** बिता देता है, किन्तु आप **(नताय)** नम्र मनुष्य के लिए **(क्षणेन)** क्षणभर में **(अभिमतम्)** इच्छित वस्तु **(दत्से)** दे देते हैं।

टीका—भो अच्युत! नताय नम्राय। क्षणेन क्षणमात्रेण अभिमतं मनोऽभिलषितं। दत्से यच्छसि। भो त्रिलोकैकनाथ! अभिमुखायाभिमतफलं त्वदन्यः कोऽपि दातुं न प्रभवतीति भावार्थः। न च्युतः सम्यग्दर्शनादिस्वभावो यस्य स तस्यामन्त्रणे भो अच्युत! विवस्वान् सूर्य इव त्वदन्यो अशक्तोऽसमर्थः

पुमान् स दाता न हर्ता दातुमशक्यत्वात्। अद्य श्व इति दर्शिता आशा वाञ्छा येन सः। पक्षे प्रदर्शित दिग्मण्डलो भूत्वा। एवं सव्याजं यथा स्यात्तथा। दिवसं गमयति कालयापनां करोतीत्यर्थः।

भावार्थ—लोग सूर्योदय होते ही हाथ जोड़ शिर झुकाकर ''नमो नारायण'' कहते हुए सूर्य को नमस्कार करते हैं और उससे इच्छित वरदान मांगते हैं, पर वह ''आज दूँगा-कल दूँगा'' इस तरह आशा दिखाता हुआ दिन बिता देता है, किसी को कुछ लेता देता नहीं है-असमर्थ जो ठहरा। पर आप नम्र मनुष्य को उसकी इच्छित वस्तु क्षणभर में दे देते हैं। इस तरह आप सूर्य से बहुत बढ़कर हैं।

दर्पणवत् वीतरागता

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुःखं।
सदावदातद्युतिरेकरूपस्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि॥७॥

अन्वयार्थ—**(त्वयि सुमुखः)** आपके अनुकूल चलने वाला पुरुष **(भक्त्या)** भक्ति से **(सुखानि)** सुखों को **(उपैति)** प्राप्त होता है **(च)** और **(विमुखः)** प्रतिकूल चलने वाला पुरुष **(स्वभावात्)** स्वभाव से ही **(दुःखम् 'उपैति')** दुःख पाता है, किन्तु **(त्वम्)** आप **(तयोः)** उन दोनों के आगे **(आदर्श इव)** दर्पण की तरह **(सदा)** हमेशा **(अवदातद्युतिः)** उज्ज्वल कान्तियुक्त तथा **(एकरूपः)** एक सदृश **(अवभासि)** शोभायमान रहते हैं।

टीका—भो नाथ! त्वयि परमेश्वरे! सुमुखः सम्यग्दृष्टिः। भक्त्या कृत्वा। स्वभावात् सहजतया। सुखानि सौधर्मेन्द्रनागेन्द्र-चक्र्यादि-जनितनानासातानि। उपैति प्राप्नोतीति भावः। च पुनस्त्वयि विषये विमुखः प्राणी मिथ्यादृष्टिदुःखं नारकतिर्यङ्निगोदजनिताऽसातमुपैति। तयोर्भाक्तिका-भाक्तिकयोस्त्वं भगवानेकरूपः। अवभासि शोभसे। क इव। आदर्श इव यथा आदर्शो मुकुरः सुमुख-विमुखयोरङ्गिनोरेकरूपः शोभते। कीदृशस्त्वं? सदाऽवदाता निर्मला द्युतिर्यस्य सः।

भावार्थ—जिस प्रकार दर्पण के सामने मुँह करने वाला पुरुष दर्पण

में अपना सुन्दर चेहरा देखकर सुखी होता है और पीठ देकर खड़ा हुआ पुरुष अपना चेहरा न देख सकने से दुःखी होता है—उनके सुख दुःख में दर्पण कारण नहीं है। दर्पण तो उन दोनों के लिए हमेशा एकरूप ही है, पर वे दो मनुष्य अपनी अनुकूल और प्रतिकूल क्रिया से अपने आप सुखी दुःखी होते हैं, उसी प्रकार जो मनुष्य आपके विषय में सुमुख होता है अर्थात् आपको पूज्य दृष्टि से देखता है—आपकी भक्ति करता है वह शुभ कर्मों का बन्ध होने अथवा अशुभ कर्मों की निर्जरा होने से स्वयं सुखी होता है और जो आपके विषय में विमुख रहता है अर्थात् आपको पूज्य नहीं समझता और न आपकी भक्ति ही करता है वह अशुभ कर्मों का बन्ध होने से दुःख पाता है। उनके सुख दुःख में आप कारण नहीं है। आप तो हमेशा दोनों के लिए रागद्वेष रहित और चैतन्य चमत्कार मय एकरूप ही हैं।

सर्वव्यापी

अगाधताब्धेः स यतः पयोधिर्मेरोश्च तुङ्गा प्रकृतिः स यत्र।
द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव व्यापत्वदीया भुवनान्तराणि॥८॥

अन्वयार्थ—(अब्धेः) समुद्र की **(अगाधता)** गहराई [**तत्र अस्ति**] वहाँ है **(यतः सः पयोधिः)** जहाँ वह समुद्र है। **(मेरोः)** सुमेरुपर्वत की **(तुङ्गा प्रकृतिः)** उन्नत प्रकृति—ऊँचाई **(तत्र)** वहाँ है **(यत्र सः)** जहाँ वह सुमेरु पर्वत है **(च)** और **(द्यावापृथिव्योः)** आकाश-पृथ्वी की **(पृथुता)** विशालता भी **(तथैव)** उसी प्रकार है अर्थात् जहाँ आकाश और पृथ्वी है, वहीं उनकी विशालता है। परन्तु **(त्वदीया अगाधता)** आपकी गहराई **(तुङ्गा प्रकृतिः)** उन्नत प्रकृति **(च पृथुता)** और हृदय की विशालता ने **(भुवनान्तराणि)** तीनों लोकों के मध्यभाग को **(व्याप)** व्याप्त कर लिया है।

टीका—भो देव! अब्धेः समुद्रस्यागाधता गम्भीरता यतो यावत्क्षेत्रं स पयोधिः समुद्रोऽस्ति तावत्येवास्ति। च पुनः मेरोर्मंदरस्य तुङ्गा प्रकृतिरुन्नतस्वभावो यत्रेति यावत्क्षेत्रं स मेरुरस्ति तावत्येवास्ति। द्यावापृथिव्योर्गगनावन्योः पृथुता विशालता तथैवेति यत्र तिष्ठतस्तत्रैवेत्यर्थः।

त्वदीया सा गम्भीरा तुङ्गता विशालता च भुवनान्तराणि लोकालोकमशेषं व्यापत् प्राप्नोति स्म। अनेन सर्वज्ञस्य महिमा लोकोत्तरः प्रकटितः।

भावार्थ—अगाधता शब्द के दो अर्थ हैं—समुद्र वगैरह में पानी की गहराई और मनुष्य हृदय में रहने वाले धैर्य की अधिकता। तुंगा प्रकृति शब्द भी द्व्यर्थक है। पहाड़ वगैरह की ऊँचाई और मन में दीनता का न होना। इसी तरह पृथुता, विशालता के भी दो अर्थ हैं। जमीन आकाश वगैरह के प्रदेशों का फैलाव और मनमें सबको अपनाने के भाव, सबके प्रति प्रेममयी भावना।

भगवन्! समुद्र की गम्भीरता समुद्र के ही पास है, मेरु पर्वत की ऊँचाई मेरु के ही पास है और आकाश पृथ्वी की विस्तारता भी उन्हीं के पास है परन्तु आपकी अगाधता–धैर्यवृत्ति, ऊँचाई–अदैन्यवृत्ति और पृथुता–उदारवृत्ति सारे संसार में फैली हुई है। इसलिए जो कहा करते हैं कि आपकी गम्भीरता समुद्र के समान है, उन्नत प्रकृति मेरु की तरह है और विशालता आकाश पृथिवी के सदृश है वे भूल करते हैं।

यथार्थ वस्तु प्रतिपादक

तवानवस्था परमार्थतत्त्वं त्वया न गीतः पुनरागमश्च।
दृष्टं विहाय त्वमदृष्टमैषीर्विरुद्धवृत्तोऽपि समञ्जसस्त्वं॥९॥

अन्वयार्थ—**(अनवस्था)** भ्रमणशीलता–परिवर्तनशीलता **(तव)** आपका **(परमार्थतत्त्वम्)** वास्तविक सिद्धान्त है **(च)** और **(त्वया)** आपके द्वारा **(पुनरागमः न गीतः)** मोक्ष से वापस आने का उपदेश दिया नहीं गया है तथा **(त्वम्)** आप **(दृष्टम्)** प्रत्यक्ष इस लोक सम्बन्धी सुख **(विहाय)** छोड़कर **(अदृष्टम्)** परलोक सम्बन्धी सुख को **(ऐषीः)** चाहते हैं; इस तरह **(त्वम्)** आप **(विरुद्धवृत्तः अपि)** विपरीत प्रवृत्ति युक्त होने पर भी **(समञ्जसः)** उचितता से युक्त हैं।

टीका—भो नाथ! त्वं विरुद्धवृत्तोऽपि विरुद्धचरणोऽपि समंजसः समीचीनः। लोकचरणाद्विरुद्धं वृत्तमाचरणं यस्य सः। तव मतेऽनवस्था परमार्थतत्त्वं वर्तते। अनवस्था विरुद्धपक्षे भ्रमणं। विरोधपरिहारपक्षे सर्वथा

नित्यत्वमेकत्वमित्याद्येकरूपताऽवस्था तदभावोऽनवस्था निश्चितार्थतत्त्वं। त्वया भगवता पुनरागमः पुनरावत्तिः न गीतः न कथितः। भो देव! च पुनः। त्वं दृष्टं दृष्टफलं। विहाय परित्यज्य। अदृष्टमदृष्टफलमैषीर्वाञ्छसि स्म। विरुद्धपक्षे दृष्टं दृष्टफलं। विरोधपरिहारपक्षे इन्द्रियसुखं। अदृष्टं अदृष्टफलं विरुद्धपक्षे। विरोधपरिहार-पक्षेऽतीन्द्रियसुखं। इति यावत्। विरुद्धपक्षे पुनरागमनं पुनरावृत्तिः। विरोधपरिहारपक्षे मुक्तजीवानां पुनरागमनाभावः।

भावार्थ—जब आपका सिद्धान्त है कि सब पदार्थ परिवर्तनशील हैं-सभी में उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता है तब सिद्धों में भी परिवर्तन अवश्य होगा, किन्तु आप उनके पुनरागमन को-संसार में वापस आने को स्वीकार नहीं करते, यह विरुद्ध बात है। जो मनुष्य प्रत्यक्ष सामने रखी हुई वस्तु को छोड़कर अप्रत्यक्ष-परभव में प्राप्त होने वाली वस्तु के पीछे पड़ता है, लोक में वह अच्छा नहीं कहलाता, परन्तु, आप वर्तमान के सुखों को छोड़कर भविष्य के सुख प्राप्त करने की इच्छा से उद्योग करते हैं यह भी विरुद्ध बात है। पर जब इन दोनों बातों का तत्त्व दृष्टि से विचार करते हैं तब वे दोनों ठीक मालूम होने लगती हैं जिससे आपकी प्रवृत्ति उचित ही रही आती है। यद्यपि पर्यायदृष्टि से सब पदार्थों में परिवर्तन होता है-सिद्धों में भी होता है तथापि द्रव्यदृष्टि से सब पदार्थ अपरिवर्तनरूप भी हैं। संसार में आने का कारण कर्मबन्ध है और वह कर्मबन्ध सिद्ध अवस्था में जड़मूल से नष्ट हो जाता है इसलिए सिद्ध जीव फिर कभी लौटकर संसार में वापिस नहीं आते, यह आपका सिद्धान्त उचित ही है। इसी तरह आपने वर्तमान के क्षणभंगुर-इन्द्रियजनित सुखों से मोह छोड़कर सच्चे आत्म-सुख को प्राप्त करने का उपदेश दिया है। वह सच्चा सुख तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि यह प्राणी इन्द्रियजनित सुख में लगा रहता है। इसलिए प्रत्यक्ष के अल्प सुख को छोड़कर वीतरागता प्राप्त करने से परभव में सच्चा सुख प्राप्त होता हो उसे कौन प्राप्त न करना चाहेगा? इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार है।

काम विजयी

स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन् उद्धूलितात्मा यदि नाम शम्भुः।
अशेत वृन्दोपहतोऽपि विष्णुः किं गृह्यते येन भवानजागः॥१०॥

अन्वयार्थ—(स्मरः) काम **(भवता एव)** आपके द्वारा ही **(सुदग्धः)** अच्छी तरह भस्म किया गया है **(यदि नाम शम्भुः)** यदि आप कहें कि महादेव ने भी तो भस्म किया था तो वह कहना ठीक नहीं क्योंकि बाद में वह **(तस्मिन्)** उस काम के विषय में **(उद्धूलितात्मा)** कलंकित हो गया था और **(विष्णु अपि)** विष्णु ने भी **(वृन्दोपहतः 'सन्')** वृन्दा–लक्ष्मी नामक स्त्री से प्रेरित हो अथवा **वृन्द**–स्त्री पुत्रादि समस्त परिग्रह के समूह से पीड़ित हो। **(अशेत)** शयन किया था। **(येन)** जिस कारण से **(भवान् अजागः)** आप जागृत रहे अर्थात् कामनिद्रा में अचेत नहीं हुए। इसलिए **(किं गृह्यते)** कामदेव के द्वारा आपकी कौन-सी वस्तु ग्रहण की जाती है अर्थात् क्यों भी नहीं?

टीका—भो देव! भवतैव त्वयैव। स्मरः कामः। सुदग्धः सुखेन दग्ध इत्यर्थः। यदि नाम निश्चयेन। तस्मिन्भस्मितात्मनि भस्मरूपे शम्भुरीश्वरः उद्धूलितो लुठितत्वाल्लिप्त आत्मा यस्य सः। ईश्वरेण कामो दग्ध इत्यसत्यमीति सूचितं। विष्णुर्नारायणो वृन्दोपहतोपि सन् अशेत। सागरमध्ये सकलपरिग्रहानूल्लसन्नपि वैचित्येन सुप्तवान्। येन कारणेन भवान् त्वं अजागः। जाग्रदवस्थामिवान्वभूः अत आह। ततः सकाशात्। येन कारणेन कामेन किं वस्तु गृह्यते?।

भावार्थ—हे भगवन्! जगद्विजयी काम को आपने ही भस्म किया था। लोग जो कहा करते हैं कि महादेव ने भस्म किया था वह ठीक नहीं, क्योंकि बाद में महादेव ने पार्वती की तपस्या से प्रसन्न हो उसके साथ विवाह कर लिया था और काम में इतने आसक्त हुए कि अपना आधा शरीर स्त्रीरूप कर लिया था। इसी तरह विष्णु ने भी वृन्दा-लक्ष्मी के वशीभूत हो तरह तरह की कामचेष्टाएँ की थीं, पर आप हमेशा ही आत्मव्रत में लीन रहे तथा काम को इस तरह पछाड़ा कि वह फिर पनप नहीं सका।

स्वतः गुणवान्

स नीरजाः स्यादपरोऽघवान्वा तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वं।
स्वतोऽम्बुराशेर्महिमा न देव! स्तोकापवादेन जलाशयस्य॥११॥

अन्वयार्थ—(वा) अथवा **(स)** वह ब्रह्मादि देवों का समूह **(नीरजाः)** पाप रहित **(स्यात्)** हो और **(अपरः)** दूसरा देव **(अघवान् 'स्यात्')** पाप सहित हो, इस तरह **(तद्दोषकीर्त्या एव)** उनके दोषों के वर्णन करने मात्र से ही **(ते)** आपकी **(गुणित्वम् न)** गुण सहितता नहीं है। **(देव!)** हे देव! **(अम्बुराशेः)** समुद्र की **(महिमा)** विशालता **(स्वतः 'स्यात्')** स्वभाव से ही होती है **(जलाशयस्य स्तोकापवादने न)** तालाब के 'छोटा है' ऐसी निन्दा करने से नहीं होती।

टीका—भो देव! स हरिहरादिप्रसिद्धः परो देवः। नीरजाः पापरहितः स्याद्वा अथवा स देव अघवान् पापसहितः स्यात्। तद्दोषकीर्त्यैव ते तव भगवतः गुणित्वं न गुणवत्ता न। निर्गत रजो यस्मात्स नीरजाः। अघं पापं विद्यते यस्य सः। तेषां हरिहरादिदेवानां दोषास्तेषां कीर्तिः कथनं तया। गुणा विद्यन्ते यस्य स तस्य भावो गुणित्वं। अम्बुराशेः समुद्रस्य स्वत एवं महिमास्ति। जलाशयस्याख्यात-सरोवरादिस्तोकापवादेन न स्यात्। तुच्छत्व-ख्यापनलक्षणदूषणेन न भवेत्। स्तोकः स्वल्प इति यो हि अपवादस्तेन।

भावार्थ—हे भगवन्! दूसरे के दोष बतलाकर हम आपका गुणीपना सिद्ध नहीं करना चाहते क्योंकि आप स्वभाव से ही गुणी हैं। सरोवर को छोटा कह देने मात्र से समुद्र की विशालता सिद्ध नहीं होती किन्तु विशालता उसका स्वभाव है इसलिए वह विशाल-बड़ा कहलाता है।

कार्य-कारणज्ञ

कर्मस्थितिं जन्तुरनेक भूमिं नयत्यमुं सा च परस्परस्य।
त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः॥१२॥

अन्वयार्थ—(जन्तुः) जीव **(कर्मस्थितिम्)** कर्मों की स्थिति को **(अनेक भूमिम्)** अनेक जगह **(नयति)** ले जाता है **(च)** और **(सा)** वह कर्मों की स्थिति **(अमुम्)** उस जीव को **(अनेकभूमिम्)** अनेक जगह ले

जाती है। इस तरह **(जिनेन्द्र!)** हे जिनेन्द्रदेव! **(त्वम्)** आपने **(भवाब्धौ)** संसाररूप समुद्र में **(नौनाविकयो इव)** नाव और नाविक की तरह **(तयो:)** उन दोनों में **(हि)** निश्चय से **(परस्परस्य)** एक-दूसरे का **(नेतृभावम्)** नेतृत्व **(आख्य:)** कहा है।

टीका—भो जिनेन्द्र! जन्तुः प्राणी। कर्मस्थितिमनेकभूमिं नानावस्थां नयति प्रापयति। कर्मणां स्थितिस्तां। च पुनः सा कार्यस्थितिः अमुं जन्तुमनेकभूमिं नयति हि निश्चितं। भवाब्धौ तयोर्जीवकर्मणोः परस्पर-स्यान्योन्यस्य नेतृभावं नेतृत्वं प्रापकत्वं आख्यः कथयसि स्म। कयोरिव? नौनाविकयोरिव। यथा नौनाविकमनेकभूमिं नयति यथा नाविको नावमनेकभूमिं नयति।

भावार्थ—सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा गया है कि यह जीव अपने भले बुरे भावों से जिन कर्मों को बाँधता है वे कर्म तब तक उसका साथ नहीं छोड़ते जब तक फल देकर खिर नहीं जाते। इस बीच में जीव जन्म-मरण कर अनेक स्थानों में पैदा हो जाता है। इसी अपेक्षा से कहा गया है कि जीव कर्मों को अनेक जगह ले जाता है और जीव का जन्म-मरणकर जहाँ तहाँ पैदा होना आयु आदि कर्मों की सहायता के बिना नहीं होता। इसलिए कहा गया है कि कर्म ही जीवको चारों गतियों में जहाँ तहाँ ले जाते हैं। हे भगवन्! आपने इन दोनों में परस्पर का नेतृत्व उस तरह कहा है जिस तरह कि समुद्र में पड़े हुए जहाज और खेवटिया में हुआ करता है।

अज्ञ चेष्टा

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान् धर्माय पापानि समाचरन्ति।
तैलाय बालाः सिकतासमूहं निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः॥१३॥

अन्वयार्थ—जिस प्रकार **(बाला:)** बालक **(तैलाय)** तेल के लिए **(सिकता-समूहम्)** बालू के समूह को **(निपीडयन्ति)** पेलते हैं **(स्फुटम्)** ठीक उसी प्रकार **(अत्वदीया:)** आपके प्रतिकूल चलने वाले पुरुष **(सुखाय)** सुख के लिए **(दु:खानि)** दुःखों को **(गुणाय)** गुण के लिए **(दोषान्)** दोषों को और **(धर्माय)** धर्म के लिए **(पापानि)** पापों को **(समाचरन्ति)**

आचरित करते हैं।

टीका—भो देव! अत्वदीयास्त्वत्तः पराङ्मुखाः पुमांसः। स्फुटं निश्चितं सुखाय सुखार्थं। दुःखानि समाचरन्ति। गुणाय गुणार्थं दोषान् समाचरन्ति। धर्माय धर्मार्थं। पापानि समाचरन्ति। पुनः बालस्तैलाय तैलार्थं। सिकतासमूहं वालुकापुञ्जं। निपीडयन्ति पीलयन्तीत्यर्थः।

भावार्थ—हे भगवन्! जो आपके शासन में नहीं चलते उन्हें धार्मिक तत्त्वों का सच्चा ज्ञान नहीं हो पाता इसलिए वे अज्ञानियों की तरह उल्टे आचरण करते हैं। वे किसी स्त्री, राज्य या स्वर्ग आदि को प्राप्त कर सुखी होने की इच्छा से तरह-तरह के कायक्लेश कर दुःख उठाते हैं पर सकाम तपस्या का कोई फल नहीं होता इसलिए वे अन्त में भी दुःखी ही रहते हैं। ''हममें शील-शांति आदि गुणों का विकाश हो'' ऐसी इच्छा रखते हुए भी रति-लम्पटी, क्रोधी आदि देवों की उपासना करते हैं पर उन देवों की शीलघातक और क्रोधयुक्त क्रियाओं का उनपर बुरा असर पड़ता है जिससे उनमें गुणों का विकाश न होकर दोषों का ही विकाश हो जाता है। इसी प्रकार यज्ञादि धर्म करने की इच्छा से पशुहिंसा आदि पाप करते हैं जिससे उल्टा पापबन्ध ही होता है। हे प्रभो! यह बिलकुल स्पष्ट है कि उनकी क्रियायें उन बालकों जैसी हैं जो कि तैल पाने की इच्छा से बालु के पुञ्ज को कोल्हू में पेलते हैं।

विष हरता

विषापहारं मणिमौषधानि मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति पर्यायनामानि तवैव तानि॥१४॥

अन्वयार्थ—(अहो) आश्चर्य है कि लोग **(विषापहारम्)** विष को दूर करने वाले **(मणिम्)** मणि को **(औषधानि)** औषधियों को **(मन्त्रम्)** मन्त्र को **(च)** और **(रसायनम्)** रसायन को **(समुद्दिश्य)** उद्देश्य कर **(भ्राम्यन्ति)** यहाँ वहाँ घूमते हैं, किन्तु **(त्वम्)** आप ही मणि, औषधि, मन्त्र और रसायन हैं **(इति)** ऐसा **(न स्मरन्ति)** ख्याल नहीं करते, क्योंकि **(तानि)** वे मणि आदि **(तव एव)** आपके ही **(पर्यायनामानि)** पर्यायवाची

नाम हैं।

टीका—विषान्यपहरतीति विषापहारस्तं। मणिं तथौषधानि तथा मन्त्रं च पुनः। रसायनं सिद्धरसं समुद्दिश्य भ्राम्यन्ति भ्रमणं कुर्वन्ति। अहो इति खेदे। त्वं इति न स्मरन्ति जना इति शेषः। इतीति किं? एतानि विषापहारमण्यादीनि तवैव भगवतः पर्यायनामानि अपरनामानि इत्यर्थः।

भावार्थ—हे भगवन्! जो मनुष्य शुद्ध हृदय से आपका स्मरण करते हैं उनके विष वगैरह का विकार अपने आप दूर हो जाता है। कहा जाता है कि एक समय स्तोत्र के रचयिता धनञ्जय कवि के लड़के को साँप ने डँस लिया तब वे अन्य उपचार न कर उसे सीधे जिनमन्दिर में ले गये और वहाँ विषापहार स्तोत्र रचकर भगवान् के सामने पढ़ने लगे। उनकी सच्ची भक्ति के प्रभाव से पुत्र का विष दूर होने लगा और वे ''**विषापहारं मणिमौषधानि**'' इस श्लोक को पढ़कर पूरा करते हैं त्यों ही पुत्र उठकर बैठ जाता है–उसका विष विकार बिलकुल दूर हो जाता है। कवि ने स्तोत्र को पूरा किया और इसके पाठ से विष विकार दूर हुआ था इसलिए इसका नाम **विषापाहार स्तोत्र** प्रचलित किया।

समदृष्टि वीतरागी

चित्ते न किञ्चित्कृतवानसि त्वं देवः कृतश्चेतसि येन सर्वम्।
हस्ते कृतं तेन जगद्विचित्रं सुखेन जीवत्यपि चित्तबाह्यः॥१५॥

अन्वयार्थ—(देवः) हे देव! **(त्वम्)** आप **(चित्ते)** अपने हृदय में **(किञ्चित्)** कुछ भी **(न कृतवान् असि)** नहीं करते हैं—रखते हैं, किन्तु **(येन)** जिसके द्वारा आप **(चेतसि)** हृदय में **(कृतः)** धारण किए हैं **(तेन)** उसके द्वारा **(सर्वम्)** समस्त **(जगत्)** संसार **(हस्ते कृतम्)** हाथ में कर लिया गया है अर्थात् उसने सब कुछ पा लिया है यह **(विचित्रम्)** आश्चर्य की बात है और आप **(चित्तबाह्यः अपि)** मन से चिन्तन करने के अयोग्य होते हुए भी **(सुखेन जीवति)** अनन्त सुख से जीवित हैं, यह आश्चर्य है।

टीका—भो देव! त्वं चित्तेऽन्तःकरणे किञ्चित् कमपि पुमांसं न कृतवान् असि वर्तसे। येन पुंसा चेतसि देवस्त्वं कृतः अन्तःकरणे त्वं देवो

धृतः। तेन पुंसा सर्वं विचित्रं जगत् हस्ते कृतं। स पुमान् सर्वं जगत् हस्तामलकवत् जानातीति भावः। चित्तबाह्योऽपि सुखेन जीवति।

भावार्थ—यह बात प्रसिद्ध है—यदि मोहन के शरीर पर पाँच हजार के आभूषण हैं तो वह मोहन, जिस कुर्सी पर बैठेगा उस कुर्सी पर भी पांच हजार के आभूषण कहलाते हैं। यदि उसके शरीर पर कुछ भी नहीं है तो कुर्सी पर भी कुछ नहीं कहलाता। पर यहाँ विचित्र ही बात है। आपके चित्त में कुछ भी नहीं है पर जो मनुष्य आपको अपने चित्त में विराजमान करता है उसके हाथ में सब कुछ आ जाता है। इस विरोध का परिहार यह है—यद्यपि आपके पास किसी को देने के लिए कुछ भी नहीं है और रागभाव न होने से आप मन में भी ऐसा विचार नहीं करते कि मैं अमुक मनुष्य के लिए अमुक वस्तु दूँ। फिर भी भक्त जीव अपनी शुभ भावनाओं से शुभ कर्मों का बन्ध कर उनके उदय-काल में सब कुछ पा लेते हैं। अथवा जो यथार्थ में आपको अपने हृदय में धारण कर लेता है वह आपके समान ही निःस्पृह हो जाता है—उसकी सब इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं। वह सोचता है कि मुझे और कुछ नहीं चाहिये। मैं आज आपको अपने चित्त में धारण कर सका मानों तीनों लोकों की सम्पत्तियाँ हमारे हाथ में आ गईं।

दूसरा विरोध यह है कि आप चित्त-चेतन से बाह्य होकर भी जीवित रहते हैं। अभी, जो चेतन से रहित हो जाता है वह मृत कहलाने लगता है, पर यहाँ उससे विरुद्ध बात है। विरोध का परिहार यह है—कि आप चित्तबाह्य—अर्थात् मन से चिन्तवन करने के अयोग्य होते हुए भी अनन्त सुख से हमेशा जीवित रहते हैं- आप अजर अमर हैं। तात्पर्य यह हैं कि आपमें अनन्त सुख है तथा आप इतने अधिक प्रभावशाली हैं कि भव्यजीव आपका मन से चिन्तवन भी नहीं कर पाते।

त्रिकालज्ञ

त्रिकालतत्त्वं त्वमवैस्त्रिलोकी स्वामीति संख्यानियतेरमीषाम्।
बोधाधिपत्यं प्रतिनाभविष्यत् तेऽन्येऽपि चेद्व्याप्स्यदमूनपीदम्॥१६॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप **(त्रिकालतत्त्वम्)** तीनों कालों के पदार्थों

को **(अवैः)** जानते हैं तथा **(त्रिलोकी स्वामी)** तीनों लोकों के स्वामी हैं, **(इति संख्या)** इस प्रकार की संख्या **(अमीषां नियतेः)** उन पदार्थों के निश्चित संख्या वाले होने से **(युज्यते)** ठीक हो सकती है, परन्तु **(बोधाधिपत्यं प्रति न)** ज्ञान के साम्राज्य के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की संख्या ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि **(इदम्)** यह ज्ञान **(चेत्)** यदि **(ते अन्ये अपि अभविष्यन्)** वे तथा और भी पदार्थ होते **(तर्हि)** तो **(अमून् अपि)** उन्हें भी **(व्याप्स्यत्)** व्याप्त कर लेता—जान लेता।

टीका—भो देव! त्वं त्रिकालं तत्त्वमवैर्जानासि स्म। त्रयश्च ते कालश्च त्रिकालास्तेषां तत्त्वं। कुत इति अमीषां कालानां संख्यानियतेः कालास्त्रय एव सन्ति नान्ये इति संख्यानियमात्। भो देव! त्वं त्रिलोकी स्वामी असि त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी। तस्याः स्वामी कुत इति? अमीषां लोकानां संख्यानियतेः। इतीति किं? यतो लोकास्त्रय एव सन्ति नान्ये इति संख्याया निश्चयात्। तेऽन्ये इतरेपि काला लोकाश्च नाभविष्यन्। अभविष्यन् चेत् यदि ते काला लोकाश्चान्येऽभविष्यन् तर्हि अमून् कालान् लोकान् प्रत्यपीदम् बोधाधिपत्यं व्याप्त्यच्छश्वत् काला लोकाश्च अन्ये न सन्तीत्यर्थः।

भावार्थ—हे प्रभो! आप तीन काल तथा तीन लोक की बात को जानते हैं इसलिए आपका ज्ञान भी उतना ही है ऐसा नहीं है। किन्तु आपके ज्ञान का साम्राज्य सब ओर अनन्त है। जितने पदार्थ हैं उनको तो ज्ञान जानता ही है। यदि इनके सिवाय और भी होते तो ज्ञान उन्हें भी अवश्य ही जानता।

शुभकारी सेवा

नाकस्य पत्युः परिकर्म रम्यं नागम्यरूपस्य तवोपकारि।
तस्यैव हेतुः स्वसुखस्य भानोरुद्बिभ्रतश्छत्रमिवादरेण ॥१७॥

अन्वयार्थ—(नाकस्य पत्युः) स्वर्ग के पति इन्द्र की **(रम्यम्)** मनोहर **(परिकर्म)** सेवा **(अगम्यरूपस्य)** अज्ञेयस्वरूप वाले **(तव)** आपका **(उपकारि न)** उपकार करने वाली नहीं है, किन्तु जिसका स्वरूप ज्ञात है ऐसे **(भानोः)** सूर्य के लिए **(आदरेण)** आदरपूर्वक **(छत्रम् उद्बिभ्रतः**

इव) छत्र को धारण करने वाले की तरह **(तस्य एव)** उस इन्द्र के ही **(स्वसुखस्य)** आत्मसुख का **(हेतुः)** कारण है।

टीका—भो देव! नाकस्य पत्युर्देवेन्द्रस्य रम्यं परिकर्म परिचर्यादिकं तवागम्यरूपस्योपकारी न। अगम्यमलक्ष्यं रूपं यस्य स तस्य। यदि भगवत उपकारी न तर्हि किं निष्फलं जातं। तस्यैव सेवा तत्परस्य इन्द्रस्यैव। स्वस्यात्मनः सुखस्य हेतुः कारणं। कस्येव? भानोरिव। यथा भानोः सूर्यस्य छत्रमादरेणोद्बिभ्रत ऊर्ध्वं धरतः पुरुषस्यैवोपकारी तापहारी भवति छत्रं सूर्यस्योपकारी न भवति।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई सूर्य के लिए छत्ता लगावे तो उससे सूर्य का कुछ भी उपकार नहीं होता क्योंकि वह सूर्य छत्ता लगाने-वाले से बहुत ऊपर है परन्तु छत्ता लगाने वाले को अवश्य ही छाया का सुख होता है। उसी प्रकार इन्द्र जो आपकी सेवा करता था, उससे आपका क्या भला होता था? उल्टा शुभास्रव होने से उसी का भला होता था।

अगम्य स्वरूप

क्वोपेक्षकस्त्वं क्व सुखोपदेशः स चेत्किमिच्छाप्रतिकूलवादः।
क्वासौ क्व वा सर्वजगत्प्रियत्वं तन्नो यथातथ्यमवेविचं ते॥१८॥

अन्वयार्थ—**(उपेक्षकः त्वम् क्व)** रागद्वेष रहित आप कहाँ? और **(सुखोपदेशः क्व)** सुख का उपदेश देना कहाँ? **(चेत्)** यदि **(सः)** वह सुख का उपदेश आप देते हैं **(तर्हि)** तो **(इच्छाप्रतिकूलवादः क्व)** इच्छा के विरुद्ध बोलना ही कहाँ है? अर्थात् आपके इच्छा नहीं है ऐसा कथन क्यों किया जाता है? **(असौ क्व)** इच्छा के प्रतिकूल बोलना कहाँ? **(वा)** और **(सर्वजगत्प्रियत्वम् क्व)** सब जीवों को प्रिय होना कहाँ? इस तरह जिस कारण से आपकी प्रत्येक बात में विरोध है **(तत्)** उस कारण से मैं **(ते यथातथ्यम् नो अवेविचं)** आपकी वास्तविकता-असली रूप का विवेचन नहीं कर सकता।

टीका—भो नाथ! त्वमुपेक्षकः क्व सुखोपदेशः क्व । द्वौ क्व शब्दौ महदन्तरं सूचयतः। उपेक्षा-तृणादिकमिदं न त्याज्यं, इदं सुवर्णादिकं न

ग्राह्यं इत्येवमाकारका बुद्धिर्यस्य स उपेक्षक एवंविधस्त्वं क्व ? सुखस्योपदेशः सुखोपदेशः। स क्व । चेद्यदि सुखोपदेशः, तर्हीच्छा-प्रतिकूलवादो न भवति। वा अथवाऽसावुपेक्षः क्व । सर्वजगत्प्रियत्वं क्व । यः पुमानुपेक्षकस्तस्य पुंसः सर्वं यज्जगत्तस्य प्रियत्वं न सञ्जाघटीति। त्वमुपेक्षकस्तव सर्वजगत्प्रियत्वं। तत्तस्मात्-कारणात् ते तव परमेश्वरस्य यथातथ्यं अहं नावेविचं नाबूबुधम्।

भावार्थ—हे भगवन्! जब आप राग द्वेष से रहित हैं तब किसी को सुखका उपदेश कैसे देते हैं? यदि सुखका उपदेश देते हैं तो इच्छा के बिना कैसे उपदेश देते हैं? यदि इच्छा के बिना उपदेश देते हैं तो जगत् के सब जीवों को प्यारे कैसे हैं? इस तरह आपकी सब बातें परस्पर में विरुद्ध हैं। दर असल में आपकी असलियत को कोई नहीं जान सकता।

उन्नत गुण वाले

तुङ्गात्फलं यत्तदकिञ्चनाच्च प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः॥१९॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! **(तुङ्गात् अकिञ्चनात् च)** उन्नत-उदार और अकिंचन-परिग्रह रहित आपसे **(यत्फलं)** जो फल **(प्राप्यं 'अस्ति')** प्राप्त हो सकता है **(तत्)** वह **(समृद्धात् धनेश्वरादेः न)** वह सम्पत्तिशाली धनाढ्य कुबेर आदि से प्राप्त नहीं हो सकता। ठीक ही तो है **(इव)** जैसे **(निरम्भसः अपि उच्चतमात् अद्रेः)** पानी से शून्य होने पर भी अत्यन्त ऊँचे पहाड़ से नदी निकलती है किन्तु **(पयोधेः)** समुद्र से **(एका अपि धुनी)** एक भी नदी **(न निर्याति)** नहीं निकलती है।

टीका—भो देव! अकिञ्चनाच्च तुङ्गात् उच्चैस्तरात् यत्फलं प्राप्यं लभ्यं तत्फलं समृद्धादैश्वर्यात्। धनेश्वरादेर्न प्राप्यं न लभ्यं। कस्मादिवाद्रेरिव। यथा निराम्भसोऽपि निरुदकात् उच्चतमात् अद्रेः पर्वतात् सकाशात् धुनी नदी निर्याति निर्गच्छतीत्यर्थः। साम्भसोऽपि पयोधेः समुद्रादेकापि धुनी न निर्याति। तथाऽसङ्गात् उच्चतमाद्भवतः सकाशात् यत्फलं लभ्यते तत्फलं समृद्धादप्यन्य-स्मान्नेति तात्पर्यम्।

भावार्थ—पहाड़ के पास पानी की एक बूँद भी नहीं है। परन्तु उसकी प्रकृति अत्यन्त उन्नत है इसलिए उससे कई नदियाँ निकलती हैं, परन्तु समुद्र से जो कि पानी से लवालव भरा रहता है एक भी नदी नहीं निकलती। इसका कारण है—समुद्र में ऊँचाई का अभाव। भगवन्! मैं जानता हूँ कि आपके पास कुछ भी नहीं है। परन्तु आपका हृदय पर्वत की तरह उन्नत है—दीन नहीं है, इसलिए आपसे हमें जो चीज मिल सकती है वह अन्य धनाढ्यों से नहीं मिल सकती क्योंकि समुद्र के समान वे भी ऊँचे नहीं हैं अर्थात् कृपण हैं।

पुण्यातिशय का प्रभाव

त्रैलोक्यसेवानियमाय दण्डं दध्रे यदिन्द्रो विनयेन तस्य।
तत्प्रातिहार्यं भवतः कुतस्त्यं तत्कर्मयोगाद्यदि वा तवास्तु॥२०॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारण से **(इन्द्रः)** इन्द्र ने **(विनयेन)** विनयपूर्वक **(त्रैलोक्यसेवानियमाय)** तीन लोक के जीवों की सेवा के नियम के लिए अर्थात् मैं त्रिलोक के जीवों की सेवा करूँगा और उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाऊँगा, इस उद्देश्य से **(दण्डम्)** दण्ड **(दध्रे)** धारण किया था। **(तत्)** उस कारण से **(प्रातिहार्यम्)** प्रतीहारपना **(तस्य स्यात्)** उस इन्द्र के ही हो **(भवतः कुतस्त्यम्)** आपके कहाँ से आया? **(यदि वा)** अथवा **(तत्कर्म-योगात्)** तीर्थंकर नामकर्म का संयोग होने से या इन्द्र के उस कार्य में प्रेरक होने से **(तव अस्तु)** आपके भी प्रातिहार्य-प्रतिहारपना हो।

टीका—भो देव! इन्द्रो विनयेन कृत्वा त्रैलोक्यस्य सेवा तस्या नियमो निश्चयस्तस्मै। यत् यदि चेद्दण्डं दध्रेऽदधात् तत्तर्हि तस्य इन्द्रस्य प्रातिहार्य भवतस्तव कुतस्त्यं। प्रतिहारस्य भावः प्रातिहार्यं। यदि वा युक्तोऽयमर्थः। तस्य तीर्थकृन्नाम-कर्मणो योगात् तव भगवतो अस्तु।

भावार्थ—जब भगवान् ऋषभनाथ भोगभूमि के बाद कर्मभूमि की व्यवस्था करने के लिए तैयार हुए तब इन्द्र ने आकर भगवान् की इच्छानुसार सब व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया था। अर्थात् प्रतीहार पद

स्वीकार किया था। जो किसी काम की व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया करता है उसे प्रतीहार कहते हैं। जैसे कि आजकल लाठी धारण किये हुये बालन्टियर-स्वयंसेवक। प्रतीहार के कार्य अथवा भाव को संस्कृत में प्रातिहार्य कहते हैं। हे प्रभो! जब इन्द्र ने सब व्यवस्था की थी तब सच्चा 'प्रातिहार्य' प्रतिहारपना इन्द्र के ही हो सकता है, आपके कैसे हो सकता है? क्योंकि आपने प्रतीहारका काम थोड़े ही किया था। फिर भी यदि आपके प्रातिहार्य होता ही है ऐसा कहना है तो उपचार से कहा जा सकता है। क्योंकि आप इन्द्र के उस काम में प्रेरक थे।

अथवा श्लोक का ऐसा भी भाव हो सकता है-"तीनलोक के जीव भगवान् की सेवा करो" इस नियम को प्रचलित करने के लिए इन्द्र ने हाथ में दण्ड लिया था, इसलिए प्रातिहार्य इन्द्र के ही बन सकता है, आपके नहीं। अथवा आपके भी हो सकता है क्योंकि आपसे ही इन्द्र की उस क्रिया के कर्मकारक का सम्बन्ध होता था। यहाँ एक और भी गुप्त अर्थ है, वह इस प्रकार है-लोक में प्रातिहार्य पदका अर्थ आभूषण प्रसिद्ध है। भगवान् के भी अशोक वृक्ष आदि आठ प्रातिहार्य आभूषण होते हैं। यहाँ कवि, प्रातिहार्य पदके श्लेष से पहले यह बतलाना चाहते हैं कि संसार के अन्य देवों की तरह आपके शरीर पर प्रातिहार्य नहीं हैं। इन्द्र के प्रातिहार्य-प्रतीहारपना हो पर आपके प्रातिहार्य आभूषण कहाँ से आये? फिर उपचार पक्ष का आश्रय लेकर कहते हैं कि आपके भी प्रातिहार्य हो सकते हैं। उसका कारण है **तत्कर्मयोगात्** अर्थात् आभूषणों के कार्य-सौंदर्य वृद्धि के साथ सम्बन्ध होना।

सम द्रष्टा

श्रिया परं पश्यति साधु निःस्वः श्रीमान्न कश्चित्कृपणं त्वदन्यः।
यथा प्रकाशस्थितमन्धकारस्थायीक्षतेऽसौ न तथा तमःस्थम्॥२१॥

अन्वयार्थ–(निःस्वः) निर्धन पुरुष **(श्रिया परम्)** लक्ष्मी से श्रेष्ठ अर्थात् सम्पन्न मनुष्य को **(साधु)** अच्छी तरह–आदरभाव से **(पश्यति)** देखता है, किन्तु **(त्वदन्यः)** आपसे भिन्न **(कश्चित्)** कोई **(श्रीमान्)** सम्पत्तिशाली पुरुष **(कृपणम्)** निर्धन को **(साधु न पश्यति)** अच्छे भावों

से नहीं देखता। ठीक है **(अन्धकारस्थायी)** अन्धकार में ठहरा हुआ मनुष्य **(प्रकाशस्थितम्)** उजाले में ठहरे हुए पुरुष को **(यथा)** जिस प्रकार **(ईक्षते)** देख लेता है **(तथा)** उस प्रकार **(असौ)** यह उजाले में स्थित पुरुष **(तमःस्थम्)** अँधेरे में स्थित पुरुष को **(न ईक्षते)** नहीं देख पाता।

टीका—भो देव! त्वत्तः सकाशात् अन्यः कः निस्वः दरिद्रिश्रिया लक्ष्म्या परमुत्कृष्टं साधु यथा स्यात्तथा पश्यति विलोकयति। त्वदन्यः श्रीमान् कृपणं साधु न पश्यति। यथा अन्धकारस्थायी पुमान् प्रकाशस्थितं पुरुषमीक्षते पश्यति तथाऽसौ प्रकाशस्थायी पुमान् तमस्थं पुरुषं नेक्षते नालोकयति। प्रकाशे स्थितस्तं। अन्धकारे तमसि तिष्ठतीति तम्।

भावार्थ—हे प्रभो! संसार के श्रीमान् निर्धन पुरुषों को बुरी निगाह से देखते हैं, पर आप श्रीमान् होते हुए भी ज्ञानादि सम्पत्ति से रहित मनुष्यों को बुरी निगाह से नहीं देखते। उन्हें भी अपनाकर हितका उपदेश दे सुखी करते हैं। इस तरह आप संसार के अन्य श्रीमानों से भिन्न ही श्रीमान् हैं। दोनों की श्री-लक्ष्मी में भेद जो ठहरा। उनके पास रुपया चांदी सोना वगैरह जड़ लक्ष्मी है पर आपके पास अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी है।

इन्द्रिय अगोचर

स्ववृद्धिनिःश्वासनिमेषभाजि प्रत्यक्षमात्मानुभवेऽपि मूढः।
किं चाखिलज्ञेयविवर्तिबोध-स्वरूपमध्यक्षमवैति लोकः॥२२॥

अन्वयार्थ—(प्रत्यक्षं) यह प्रकट है कि **[यः]** जो मनुष्य **(स्ववृद्धि-निःश्वास-निमेषभाजि)** अपनी वृद्धि, श्वासोच्छ्वास और आँखों की टिमकार को प्राप्त **(आत्मानुभवे अपि)** अपने आपके अनुभव करने में **(मूढः)** मूर्ख है **(स लोकः)** वह मनुष्य **(अखिलज्ञेयविवर्तिबोधस्वरूपं)** सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला ज्ञान ही है स्वरूप जिसका ऐसे **(अध्यक्षं)** अध्यात्मस्वरूप आपको **(किं च अवैति)** कैसे जान सकता है?

टीका—लोक आत्मानुभवेऽपि निजस्वरूपानुभवेऽपि। प्रत्यक्षं साक्षात्।

मूढो मूर्खो वर्तते। आत्मनोऽनुभवः आत्मानुभवस्तस्मिन्। च पुनः लोकोऽखिल-ज्ञेयविवर्त्तिबोधस्वरूपं अध्यक्षं मम प्रत्यक्षं किमवैति जानाति? अपि तु न जानातीत्यर्थः। अखिलाश्च ते ज्ञेयाः पदार्थास्तेषां विवर्तिनः पर्यायास्तेषां बोधस्तस्य स्वरूपं तत्त्वं। कथंभूते आत्मानुभवे? स्ववृद्धि-निश्वास-निमेषभाजि। स्ववृद्धिश्च निश्वासश्च निमेषाश्च तान् भजतीति तस्मिन्।

भावार्थ—भगवन्! जो मनुष्य अपने आपके स्थूल पदार्थों को भी जानने के लिए समर्थ नहीं है वह ज्ञानस्वरूप तथा आत्मा में विराजमान आपको कैसे जान सकता है? अर्थात् नहीं जान सकता।

स्वरूप अनभिज्ञ अज्ञानी

तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव! त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य।
तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति॥२३॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे नाथ! **(ये)** जो मनुष्य, आप **(तस्य आत्मजः)** उसके पुत्र हो और **(तस्य पिता)** उसके पिता हो **(इति)** इस प्रकार **(कुलम् प्रकाश्य)** कुल का वर्णन कर **(त्वाम् अवगायन्ति)** आपका अपमान करते हैं **(ते)** वे **(अद्य अपि)** अब भी **(पाणौ कृतम्)** हाथ में आये हुए **(हेम)** सुवर्ण को **(आश्मनम्)** पत्थर से पैदा हुआ है, **(इति)** इस हेतु से **(पुनः)** फिर **(अवश्यं त्यजन्ति)** अवश्य ही छोड़ देते हैं?

टीका—भो देव! ये लोकास्त्वां भगवन्तं अवगायन्ति। किं कृत्वा तस्य श्री-नाभेरात्मजः पुनस्तस्य श्रीभरतचक्रवर्तिनः पितेत्यमुना प्रकारेण कुलं प्रकाश्य प्रकटीकृत्य। ते पुरुषा अद्यापि ननु निश्चितं। पाणौ करकमले। कृतं हेम सुवर्णं अवश्यं निश्चितमाश्मनं पाषाणोद्‌भवं इति विलोक्य पुनस्त्यजति जहतीत्यर्थः।

भावार्थ—एक तो सुवर्ण हाथ नहीं लगता, यदि किसी तरह लग भी जावे तो उसे यह सोचकर कि इसकी उत्पत्ति पत्थरों से हुई है, फिर अलग कर देना मूर्खता है। इसी तरह आपका श्रद्धान व ज्ञान सबको नहीं होता। यदि किसी को हो भी जावे तो वह आपको मनुष्य कुल में पैदा बतलाकर

फिर भी छोड़ देता है, यह सबसे बढ़कर मूर्खता है। सुवर्ण यदि शुद्ध है तो फिर वह पत्थर से तो क्या दुनियाँ के किसी हल्के से हल्के पदार्थ से उत्पन्न हुआ हो तो बाजार में उसकी कीमत पूरी ही लगेगी और मैल सहित है-अशुद्ध है तो किसी अच्छे पदार्थ से भी उत्पन्न होने पर भी उसकी पूरी कीमत नहीं लग सकती। इसी प्रकार जो आत्मा शुद्ध है, कर्ममल से रहित है, भले ही वह उस पर्याय में नीच कुल में पैदा हुआ हो, पूज्य कहलाता है और यदि वही आत्मा उच्च कुल में पैदा होकर भी अशुद्ध है-मलिन है तो उसे कोई पूछता भी नहीं है।

मोहविजयी भगवन्

दत्तस्त्रिलोक्यां पटहोभिभूताः सुरासुरास्तस्य महान् स लाभः।
मोहस्य मोहस्त्वयि को विरोद्धुम् मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः॥२४॥

अन्वयार्थ—मोह के द्वारा **(त्रिलोक्याम्)** तीनों लोकों में **(पटहः)** विजय का नगाड़ा **(दत्तः)** दिया गया/बजाया गया उससे जो **(सुरासुराः)** सुर और असुर **(अभिभूताः)** तिरस्कृत हुए **(सः)** वह **(तस्य)** उस मोह का **(महान् लाभः)** बड़ा लाभ हुआ किन्तु **(त्वयि)** आपके विषय में **(विरोद्धुम्)** विरोध करने के लिए **(मोहस्य)** मोह का **(कः)** कौन-सा **(मोहः)** भ्रम हो सकता था अर्थात् कोई नहीं, क्योंकि **(बलवद्विरोधः)** बलवान् के साथ विरोध करना **(मूलस्य नाशः)** मानो मूल का नाश करना है।

टीका—भो देव! मोहस्य मोहनीयकर्मणः। त्वयि विषये विरोद्धुं स्पर्धायितुं को मोहः भ्रमः। समानबलाय स्पर्धा न तु न्यूनाधिकयोः। तस्य मोहस्य स महान् लाभो यः सुरासुरा देवदानवादयोऽभिभूताः पराभूता इति त्रैलोक्ये पटहो दत्तः। कुत एवं भ्रमतः? बलवद्भिः सह विरोधो मूलस्य नाशो भवति।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस मोह ने संसार के सब जीवों को अपने वश कर लिया उस मोहको भी आपने जीत लिया है अर्थात् आप मोहरहित-रागद्वेषशून्य हैं।

अभिमान रहित भगवन्

मार्गस्त्वयैको ददृशे विमुक्तेः चतुर्गतीनां गहनं परेण।
सर्वं मया दृष्टमिति स्मयेन त्वं मा कदाचित् भुजमालुलोकः॥२५॥

अन्वयार्थ—(त्वया) आपके द्वारा **(एकः)** एक **(विमुक्तेः)** मोक्ष का ही **(मार्गः)** मार्ग **(ददृशे)** देखा गया है और **(परेण)** दूसरों के द्वारा **(चतुर्गतीनाम्)** चारों गतियों का **(गहनम्)** सघन वन **(ददृशे)** देखा गया है, मानो इसीलिए **(त्वम्)** आपने **(मया सर्वं दृष्टम्)** मैंने सब कुछ देखा है **(इति स्मयेन)** इस अभिमान से **(कदाचित्)** कभी भी **(भुजम्)** अपनी भुजा को **(मा आलुलोके)** नहीं देखा था।

टीका—भो नाथ! त्वया भगवता। एकोऽद्वितीयो विमुक्तेर्मार्गो ददृशे दर्शितः। परेण हरिहरादिदेवेन। चतुर्गतीनां नरकतिर्यग्देवमनुष्यपर्याणां। गहनं ददृशे दर्शितं। भो देव! मया सर्वं दृष्टमिति स्मयेनेत्यहंकारभरेण त्वं कदाचित् भुजं निजबाहुशिखरं मालुलोकः माद्राक्षीः। इति निन्दा-स्तुत्यलङ्कारविष्टम्भेन त्वमेव मुक्तोऽन्ये सर्वेऽपि संसारिणः इति तात्पर्यम्।

भावार्थ—घमण्डियों का स्वभाव होता है कि वे अपने को बड़ा समझकर बार-बार अपनी भुजाओं की तरफ देखते हैं, पर आपने घमण्ड से कभी अपनी भुजा की तरफ नहीं देखा। उसका कारण यह है कि आप सोचते थे कि मैंने तो सिर्फ एक मोक्ष का ही रास्ता देखा है और अन्य देवी देवता चारों गतियों के रास्तों से परिचित हैं इसलिए मैं उनके सामने अल्पज्ञ हूँ। अल्पज्ञ का बहुज्ञानियों के सामने अभिमान कैसा? श्लोक का तात्पर्य यह है कि आप अभिमान से रहित हैं और निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त होने वाले हैं, परन्तु अन्य देवता अपने अपने कार्यों के अनुसार नरक आदि चारों गतियों में घूमा करते हैं।

विरोधी रहित अविनाशी

स्वर्भानुरर्कस्य हविर्भुजोऽम्भः कल्पान्तवातोऽम्बुनिधेर्विघातः।
संसारभोगस्य वियोगभावो विपक्षपूर्वाभ्युदयास्त्वदन्ये ॥२६॥

अन्वयार्थ—जैसे **(अर्कस्य)** सूर्य का **(स्वर्भानुः)** राहु, **(हविर्भुजः)**

अग्नि का **(अम्भः)** पानी, **(अम्बुनिधेः)** समुद्र का **(कल्पान्तवातः)** प्रलयकालीनवायु तथा **(संसारभोगस्य)** संसार के भोग का **(वियोगभावः)** विरहभाव, **(विघातः)** नाश करने वाले हैं, इस तरह **(त्वदन्ये)** आपसे भिन्न सब पदार्थ **(विपक्षपूर्वाभ्युदयाः 'सन्ति')** अपने विपक्ष रूप शत्रु युक्त अभ्युदय वाले हैं। अर्थात् विनाश के साथ ही उदय होते हैं।

टीका—भो देव! त्वत्तः सकाशात् अन्ये यावन्तः पदार्थाः सन्ति तावन्ते विपक्षपूर्वाभ्युदयाः सन्ति। विपक्षपूर्वः शत्रुपूर्वः अभ्युदयो भाग्यमेषां ते। अर्कस्य सूर्यस्य स्वर्भानुः राहुर्विघातोस्ति। हविर्भुजोऽग्नेरम्भस्तोयं विघातं। अम्बुनिधेः समुद्रस्य कल्पान्तवातो विघातः। संसारभोग्यस्य स्रक्चन्दन-वनितादेर्वियोगभावो विघातः। इति विपक्षपूर्वाः सर्वे। त्वमेव नेति भावः।

भावार्थ—हे प्रभो! संसार के सब पदार्थ अनित्य हैं, सिर्फ आप ही सामान्य स्वरूप की अपेक्षा नित्य हैं अर्थात् आप जन्म मरण से रहित हैं और आपकी यह विशुद्धता भी कभी नष्ट नहीं होती।

आपको नमस्कार निष्फल नहीं

अजानतस्त्वां नमतः फलं यत् तज्जानतोऽन्यं न तु देवतेति।
हरिन्मणिं काचधिया दधानः तं तस्य बुद्ध्या वहतो न रिक्तः ॥२७॥

अन्वयार्थ—(त्वाम्) आपको **(अजानतः)** बिना जाने ही **(नमतः)** नमस्कार करने वाले पुरुष को **(यत् फलम्)** जो फल होता है, **(तत्)** वह फल **(अन्यं देवता इति जानतः)** दूसरे को 'देवता है' इस तरह जानने वाले पुरुष को **(न तु)** नहीं होता। क्योंकि **(हरिन्मणिम्)** हरे मणि को **(काचधिया)** काच की बुद्धि से **(दधानः)** धारण करने वाला पुरुष **(तं तस्य बुद्ध्या वहतः)** हरे मणि को हरे मणि की बुद्धि से धारण करने वाले पुरुष की अपेक्षा **(रिक्तः न)** दरिद्र नहीं है।

टीका—भो नाथ! त्वामष्टविधप्रातिहार्यविभवालंकृतं त्वामजानतो नमतः पुरुषस्य यत्फलं स्यात्। तु पुनरन्यं कञ्चन देवतेति जानतो नमतः पुरुषस्य तत्फलं न स्यात्। काचधिया काचबुद्ध्या हरिन्मणि नीलरत्नं दधानः पुमांस्तस्य हरिन्मणिर्बुद्ध्या तं काच वहतः पुरुषात् सकाशात् रिक्तो न।

भावार्थ—हे भगवन्! जो आपको नमस्कार करता है पर आपके स्वरूप को नहीं जानता, उसे भी जो पुण्यबंध होता है वह किसी दूसरे को देवता मानने वाले पुरुष को नहीं होता। जिस तरह कोई अजान मनुष्य हरित मणिको पहन कर उसे काँच समझता है तो वह दूसरे की निगाह में जो मणि को मणि समझकर पहन रहा है निर्धन नहीं कहलाता। वे दोनों एक जैसी सम्पत्ति के अधिकारी कहे जाते हैं। श्रद्धा और विवेक के साथ प्राप्त हुआ अल्पज्ञान भी प्रशंसनीय है।

अज्ञानियों की मान्यता

प्रशस्तवाचश्चतुराः कषायैः दग्धस्य देवव्यवहारमाहुः।
गतस्य दीपस्य हि नन्दितत्वं दृष्टं कपालस्य च मङ्गलत्वम् ॥२८॥

अन्वयार्थ—**(प्रशस्तवाचः)** सुन्दर वचन बोलने वाले **(चतुराः)** चतुर मनुष्य **(कषायैः दग्धस्य)** कषायों से जले हुए पुरुष के भी **(देवव्यवहारं आहुः)** देव शब्द का व्यवहार करना कहते हैं। सो ठीक ही है **(हि)** क्योंकि **(गतस्य दीपस्य)** बुझे हुए दीपक का **(नन्दितत्वं)** बढ़ना **(च)** और **(कपालस्य)** फूटे हुए घड़े का **(मङ्गलत्वं)** मंगलपन **(दृष्टम्)** देखा गया है।

टीका—प्रशस्ता प्रशस्या वाग् वाणी येषां ते चतुरा पुमान्सः। कषायैः क्रोधमानमायालोभादिभिः। दग्धस्य पुन्सः। देव परमेश्वरस्तस्य व्यवहार-माहुर्भणन्ति स्म। हि निश्चितं। तैः पुरुषैः। गतस्य प्रनष्टस्य दीपस्य नन्दितत्वं वर्धमानत्व दृष्टं। च पुनस्तै, कपालस्य खर्परस्य मङ्गलत्वं माङ्गल्यं दृष्टम्।

भावार्थ—हे भगवन्! लौकिक मनुष्य रागी द्वेषी जीवों के भी देव शब्द का व्यवहार करते हैं सो सिर्फ लोकव्यवहार से ही किसी बात की सत्यता नहीं होती। क्योंकि लोक में कितनी ही बातों का उल्टा व्यवहार होता है। जैसे कि जब दीपक बुझ जाता है तब लोग कहते हैं कि दीपक बढ़ गया। और जब घड़ा फूट जाता है तब लोग कहने लगते हैं कि घड़े का कल्याण हो गया।

हितकारी निर्दोष उपदेशक

नानार्थमेकार्थमदस्त्वदुक्तं हितं वचस्ते निशम्य वक्तुः।
निर्दोषतां के न विभावयन्ति ज्वरेण मुक्तः सुगमः स्वरेण ॥२९॥

अन्वयार्थ—(नानार्थम्) अनेक अर्थों के प्रतिपादक तथा **(एकार्थम्)** एक ही प्रयोजन युक्त **(त्वदुक्तम्)** आपके कहे हुए **(अदः हितं वचः)** इन हितकारी वचनों को **(निशम्य)** सुनकर **(के)** कौन मनुष्य **(ते वक्तुः)** आपके जैसे वक्ता की **(निर्दोषताम्)** निर्दोषता को **(न विभावयन्ति)** नहीं अनुभव करते हैं अर्थात् सभी करते हैं। जैसे [**यः**] जो **(ज्वरेण मुक्तः 'भवति')** ज्वर से मुक्त हो जाता है **(सः)** वह **(स्वरेण सुगमः 'भवति')** स्वर से सुगम हो जाता है। अर्थात् स्वर से उसकी अच्छी तरह पहचान हो जाती है।

टीका—भो देव! त्वदुक्तं त्वया प्रणीतमदः प्रसिद्धवचो। निशम्य श्रुत्वा। ते तव। वक्तुर्निर्दोषतां दोषरहितत्वं। के पुरुषा न विभावयन्ति। ज्वरेण मुक्तः पुमान् स्वरेण कृत्वा सुगमः सुखेन ज्ञेयो भवति। कीदृशं वचो? नानाबहवोऽर्था यस्मिन् तत्। कथंभूतमेकोऽद्वितीयः पूर्वापर-विरोधरहितः अर्थो यस्मिन् तत्। पुनः हितं हितकारी। दोषन्निष्क्रान्तो निर्दोषस्तस्य भावस्ताम्।

भावार्थ—आपके वचन नानार्थ होकर भी एकार्थ हैं। यह प्रारम्भ में विरोध मालूम होता है पर अन्त में उसका इस प्रकार परिहार हो जाता है कि आपके वचन स्याद्वाद सिद्धान्त से अनेक अर्थों का प्रतिपादन करने वाले हैं, फिर भी एक ही प्रयोजन को सिद्ध करते हैं अर्थात् पूर्वापर विरोध से रहित हैं। हे भगवन्! आपके हितकारी वचनों को सुनकर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि आप निर्दोष हैं क्योंकि सदोष पुरुष वैसे वचन नहीं बोल सकता जैसे कि किसी की अच्छी आवाज सुनकर साफ मालूम हो जाता है कि वह ज्वर से मुक्त है क्योंकि ज्वर से पीड़ित मनुष्य का स्वर अच्छा नहीं होता।

स्वभाव से उपकारी

न क्वापि वाञ्छा ववृते च वाक्ते काले क्वचित्कोऽपि तथा नियोगः।
न पूरयाम्यम्बुधिमित्युदंशुः स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युदेति ॥३०॥

अन्वयार्थ—(ते) आपकी **(क्वापि)** किसी भी वस्तु में **(वाञ्छा न)** इच्छा नहीं है **(च)** और **(वाक् वतृते)** वचन प्रवृत्त होते हैं। सचमुच में **(क्वचित् काले)** किसी काल में **(तथा)** वैसा **(कः अपि नियोगः)** कोई नियोग—नियम ही होता है। **(हि)** क्योंकि **(शीतद्युतिः)** चन्द्रमा **(अम्बुधिम् पूरयामि)** मैं समुद्र को पूर्ण कर दूँ **(इति)** इसलिए **(उदंशुः न भवति)** उदित नहीं होता किन्तु **(स्वयम् अभ्युदेति)** स्वभाव से उदित होता है।

टीका—भो देव! तव भगवतः क्वापि कस्मिश्चिदपि वस्तुनि वाञ्छा न। च पुनः वाग्ववृते प्रवर्तिता दिव्यध्वनिः प्रवर्त्तित इति भावः। क्वचित्काले कोऽपि अनिर्वचनीयस्तथा नियोगोऽस्ति। शीतद्युतिश्चन्द्रः अम्बुधिं पूरयामीत्युदंशुर्न हि स्वयमभ्युपैति। उदेति क्वचित्काले कोऽपि यथा तस्य नियोगोऽस्ति तथैवेति भावः।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा यह इच्छा रख कर उदित नहीं होता कि मैं समुद्र को लहरों से भर दूँ पर उसका वैसा स्वभाव ही है कि चन्द्रमा का उदय होने पर समुद्र में लहरें उठने लगती हैं, इसीप्रकार आपके यह इच्छा नहीं है कि मैं कुछ बोलूँ पर वैसा स्वभाव होने से आपके वचन प्रकट होने लगते हैं।

अनन्त गुणधारी

गुणा गभीराः परमाः प्रसन्ना बहुप्रकारा बहवस्तवेति।
दृष्टोऽयमन्तः स्तवनेन तेषां गुणो गुणानां किमतः परोऽस्ति ॥३१॥

अन्वयार्थ—(तव) आपके **(गुणाः)** गुण **(गभीराः)** गम्भीर **(परमाः)** उत्कृष्ट **(प्रसन्नाः)** उज्ज्वल **(बहुप्रकाराः)** अनेक प्रकार के और **(बहवः)** बहुत हैं **(इति)** इस प्रकार **(अयम्)** यह **(स्तवनेन)** स्तुति के द्वारा ही **(तेषाम् गुणानाम्)** उन गुणों का **(अन्तः दृष्ट :)** अन्त देखा गया है **(अतः परः गुणानाम् अन्तः किम् अस्ति)** इसके सिवाय गुणों

का अन्त क्या होता है? अर्थात् नहीं।

टीका—भो नाथ! तव भगवतो गुणा गभीराः अगाधाः। परमा उत्कृष्टाः। प्रसन्ना निर्मलाः। बहुप्रकारा नानाविधाः। बहवोऽनन्ता। इति स्तवनेन कृत्वा। गुणानामयन्तः पारो दृष्टस्तेषां गुणानामन्तः परः किमस्ति।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके निर्मल गुण संख्या रहित और अनुपम है।

सर्वसिद्धि प्रदायी उपासना

स्तुत्या परं नाभिमतं हि भक्त्या स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि।
स्मरामि देवं प्रणमामि नित्यं केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम्॥३२॥

अन्वयार्थ—**(स्तुत्या हि)** स्तुति के द्वारा ही **(अभिमतम् न)** इच्छित वस्तु की सिद्धि नहीं होती **(परम्)** किन्तु **(भक्त्या स्मृत्या च प्रणत्या)** भक्ति, स्मृति और नमस्कृति से भी होती है **(ततः)** इसलिए मैं **(नित्यम्)** हमेशा **(देवम् भजामि-स्मरामि-प्रणमामि)** आप देव को भजता हूँ/भक्ति करता हूँ, स्मरण करता हूँ और प्रणाम करता हूँ **(हि)** क्योंकि **(फलम्)** इच्छित वस्तु की प्राप्ति रूप फल को **(केन अपि उपायेन)** किसी भी उपाय से **(साध्यम्)** सिद्ध कर लेना चाहिए।

टीका—भो देव! हि निश्चितं। परं केवलं। स्तुत्या कृत्वा मनोऽभि-लषितं न। तत्तस्मात्कारणात् भक्त्या देवमहं भजामि। च पुनः। देवं नित्यं स्मरामि। च पुनः। प्रणत्या देवं नित्यं प्रणमामि। हि निश्चितं प्राणिनां केनाप्युपायेन गुणानां फलं साध्यमुपार्जनीयं।

भावार्थ—हे भगवन्! आपकी स्तुति से, भक्ति से, स्मृति-ध्यान से और प्रणति से जीवों को इच्छित फलों की प्राप्ति होती है इसलिए मैं प्रतिदिन आपकी स्तुति करता हूँ, भक्ति करता हूँ, ध्यान करता हूँ और नमस्कार करता हूँ। क्योंकि मुझे जैसे बने तैसे अपना कार्य सिद्ध करना है।

पुण्य के प्रधान कारण

ततस्त्रिलोकीनगराधिदेवं नित्यं परं ज्योतिरनन्तशक्तिम्।
अपुण्यपापं परपुण्यहेतुं नमाम्यहं वन्द्यमवन्दितारम्॥३३॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसलिए **(अहम्)** मैं **(त्रिलोकी नगराधिदेवम्)** तीन लोक रूप नगर के अधिपति, **(नित्यम्)** विनाशरहित, **(परम्)** श्रेष्ठ **(ज्योतिः)** ज्ञान-ज्योति स्वरूप **(अनन्तशक्तिम्)** अनन्तवीर्य/अनन्तशक्ति से सहित, **(अपुण्यपापम्)** स्वयं पुण्य और पाप से रहित होकर भी **(परपुण्यहेतुम्)** दूसरे के पुण्य के कारण तथा **(वन्द्यम्)** वन्दना करने के योग्य होकर भी स्वयं **(अवन्दितारम्)** किसी की भी वन्दना नहीं करने वाले [**भवन्तम्**] आपको **(नमामि)** मैं नमस्कार करता हूँ।

टीका—ततस्तस्मात्कारणात् अहं त्रिलोकीनगराधिदेवं नमामि। त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी सैव नगरं तस्याधिदेवः स्वामी तं। कीदृशं देवं? नित्यं शश्वद्भावापन्नं। पुनः कथंभूतं? परंज्योतिषा परं ज्ञानेनेनानंतवीर्य यस्य स तं। पुनः कथंभूतं? न विद्येते पुण्यपापे यस्य तं। पुनः परेषां प्राणिनां पुण्ये हेतुः पुण्यकारणं तं। पुनः कथंभूतं? वन्द्यं सुरा-सुरादिशतेन्द्रैस्तुत्यं। पुनः कथंभूतं? अवन्दितारं अवन्दकं। वन्दतेऽसौ वंदकः न वन्दकोऽवंदकस्तं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप तीन लोक के स्वामी हैं, आपका कभी विनाश नहीं होता, सर्वोत्कृष्ट हैं, केवल ज्ञानरूप ज्योति से प्रकाशमान हैं, आपमें अनन्त बल है, आप स्वयं पुण्य पाप से रहित हैं, पर अपने भक्तजनों के पुण्यबन्ध में निमित्त कारण हैं, आप किसी को नमस्कार नहीं करते पर सब लोग आपको नमस्कार करते हैं। आपकी इस विचित्रता से मुग्ध हो मैं भी आपके लिए नमस्कार करता हूँ।

सदा स्मरणीय

अशब्दमस्पर्शमरूपगन्धं त्वां नीरसं तद्विषयावबोधम्।
सर्वस्य मातारममेयमन्यैर् जिनेन्द्रमस्मार्यमनुस्मरामि॥३४॥

अन्वयार्थ—(अशब्दम्) शब्दरहित, **(अस्पर्शं)** स्पर्शरहित **(अरूप-गन्धं)** रूप और गन्धरहित तथा **(नीरसं)** रसरहित होकर भी **(तद्विषयाव-बोधं)** उनके ज्ञान से सहित, **(सर्वस्य मातारं)** सबके जानने वाले होकर भी **(अन्यैः)** दूसरों के द्वारा **(अमेयं)** नहीं जानने के योग्य तथा **(अस्मार्यं)** जिनका स्मरण नहीं किया जा सकता ऐसे **(जिनेन्द्रं त्वां अनुस्मरामि)**

जिनेन्द्र भगवान् आपका प्रतिक्षण मैं स्मरण करता हूँ—ध्यान करता हूँ।

टीका—त्वां जिनेन्द्रमहमनुस्मरामि नित्यं ध्यायामि। कथंभूतं त्वां? न विद्यते शब्दो यस्य स तं। न स्पर्शो यस्य स तं। न रूपगन्धौ यस्य स तं। रसान्निष्क्रान्तो यः स तं। पुनः त एव विषयाः स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तेषां। अवबोधो ज्ञानं यस्य स तं। सर्वस्य त्रैलोक्यस्य दंडाकारेण घनाकारेण माता प्रमापकस्तं। पुनः माया ज्ञानस्य विषयो मेयः न मेयोऽमेयस्तं। कैरन्यैर्लोकैः पुनः स्मारयतीति स्मार्यः न स्मार्यः अस्मार्यस्तं। अस्मारक-मित्यर्थः।

भावार्थ—हे भगवन्! आप रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से रहित हैं—अमूर्तिक हैं, फिर भी उन्हें जानते हैं। आप सबको जानते हैं पर आपको कोई नहीं जान पाता। यद्यपि आपका मन से भी कोई स्मरण नहीं कर सकता तथापि मैं अपने बाल साहस से आपका क्षण-क्षण में स्मरण करता हूँ।

सत्य शरण रूप

अगाधमन्यैर्मनसाप्यलंघ्यं निष्किञ्चनं प्रार्थितमर्थवद्भिः।
विश्वस्य पारं तमदृष्टपारं पतिं जिनानां शरणं व्रजामि॥३५॥

अन्वयार्थ—**(अगाधं)** गम्भीर **(अन्यैः)** दूसरों के द्वारा **(मनसा अपि अलंघ्यं)** मन से भी उल्लंघन करने के अयोग्य अर्थात् अचिन्त्य **(निष्किञ्चनं)** निर्धन होने पर भी **(अर्थवद्भिः)** धनाढ्यों के द्वारा **(प्रार्थितं)** याचित **(विश्वस्य पारं)** सबके पारस्वरूप होने पर भी **(अदृष्टपारं)** जिनका पार/अन्त कोई नहीं देख सका है, ऐसे **(तम् जिनानां पतिं)** उन जिनेन्द्रदेव की मैं **(शरणम् व्रजामि)** शरण को प्राप्त होता हूँ।

टीका—अहं तं जिनानां पतिं गणधरदेवानां स्वामिनं प्रति शरणं व्रजामि यामीत्यर्थः। कथम्भूतं तं? अगाधं गम्भीरमित्यर्थः। पुनः अन्यैर्लोकैः मनसाप्यलंघ्यं लङ्घितुमशक्यं। पुनः निष्किञ्चनमसंगं चतुर्विंशतिधा परिग्रहरहितत्वात्। पुनः अर्थवद्भिर्लोकैः प्रार्थितं। पदार्थवद्भिर्धनेश्वररैर्वा याचितं मनोभिलषित-दातृत्वात्! पुनः विश्वस्य त्रैलोकस्य पारं प्राप्तं लोकप्रकाशक-ज्ञानाधिष्ठातृत्वात्। अदृष्टपारं न दृष्टः पारो यस्य स तं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप बहुत ही गम्भीर–धैर्यवान् हैं। आपका कोई मनसे भी चिन्तन नहीं कर सकता। यद्यपि आपके पास देने के लिए कुछ भी नहीं है, तो भी धनिक लोग (अथवा याचकवर्ग) आपसे याचना करते हैं, आप सबके पार को जानते हैं, पर आपके पार को कोई नहीं जान सकता और आप जगत के जीवों के पति–रक्षक हैं ऐसा सोचकर मैं भी आपकी शरण में आया हूँ।

स्वाभाविक गुणों से उन्नत

त्रैलोक्यदीक्षा गुरवे नमस्ते यो वर्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत्।
प्राग्गण्डशैलः पुनरद्रिकल्पः पश्चान्नमेरुः कुलपर्वतोऽभूत्॥३६॥

अन्वयार्थ—(त्रैलोक्यदीक्षागुरवे ते नमः) त्रिभुवन के जीवों के दीक्षागुरुस्वरूप आपके लिए नमस्कार हो **(यः)** जो आप **(वर्धमानः अपि)** क्रम से उन्नति को प्राप्त होते हुए भी **(निजोन्नतः)** स्वयमेव उन्नत **(अभूत्)** हुए थे। **(मेरुः)** मेरुपर्वत **(प्राक्)** पहले **(गण्डशैलः)** गोल पत्थरों का ढेर, **(पुनः)** फिर **(अद्रिकल्पः)** पहाड़ तुल्य (पश्चात्) फिर **(कुलपर्वतः)** कुलाचल **(न अभूत्)** नहीं हुआ था किन्तु स्वभाव से ही वैसा था।

टीका—भो भगवन् ते तुभ्यं नमः। कथंभूताय ते? त्रैलोकस्याधो–मध्योर्ध्वलोकोद्भूतजनस्य दीक्षोपदेशसूत्रगुरुस्तस्मै। यस्त्वं वर्द्धमानोऽपि सन् निजोन्नतः स्वमेवोन्नतोऽभूत्। मेरुः सुदर्शनः। प्राग् पूर्व। गण्डशैलः सन् पुनरद्रिकल्पः पर्वततुल्योऽभूत। पश्चाद्वर्द्धमानोऽपि कुलपर्वतः नाभूत् न बभूव।

भावार्थ—हे प्रभो! आप तीन लोक के जीवों के दीक्षागुरु हैं इसलिए आपको नमस्कार हो। इस श्लोक के द्वितीय पाद में विरोधाभास अलंकार है। वह इस तरह कि आप अभी वर्धमान हैं अर्थात् क्रम से बढ़ रहे हैं फिर भी निजोन्नत–अपने आप उन्नत हुये थे। जो चीज अभी बढ़ रही है वह पहले उससे छोटी ही होती है न कि बड़ी, पर यहाँ इससे विपरीत बात है। विरोध का परिहार इस प्रकार है कि आप वर्धमान–अन्तिम तीर्थंकर होकर भी स्वयमेव उन्नत थे, न कि क्रम क्रम से उन्नत हुए थे, क्योंकि मेरु पर्वत

आज जितना उन्नत है उतना उन्नत हमेशा से ही था न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुआ है। यहाँ वर्धमान पद श्लिष्ट है।

काल विजयी

स्वयं प्रकाशस्य दिवा निशा वा न बाध्यता यस्य न बाधकत्वम्।
न लाघवं गौरवमेकरूपं वन्दे विभुं कालकलामतीतम्॥३७॥

अन्वयार्थ—(स्वयं प्रकाशस्य यस्य) स्वयं प्रकाशमान रहने वाले जिसके **(दिवा निशा वा)** दिन और रात की तरह **(न बाध्यता न बाधकत्वं)** न बाध्यता है और न बाधकपना भी। इसी प्रकार जिनके **(न लाघवं गौरवं)** न लाघव है न गौरव भी, उन **(एकरूपं)** एक रूप रहने वाले और **(काल-कलां अतीतं)** क्षण आदि काल की पर्याय से रहित अर्थात् अन्तरहित **(विभुं वन्दे)** परमेश्वर की मैं वन्दना करता हूँ।

टीका—अहं विभुं व्यापकं प्रभुं। वन्दे नमस्करोमि। कथंभूतं तं? कालस्य कला क्षणादिसलयस्तामतीतं रहितं। यस्य स्वयंप्रकाशस्य भगवतः तव दिवा दिवसो वा अथवा रात्रिर्बाध्यता बाधको न। तयोस्तव बाधकत्वमपि न। तव भगवतो लाघवं गौरवमपि न। कीदृशमेकरूपं? एकमद्वितीयं ज्योतिर्लक्षणं रूपं यस्य स तम्।

भावार्थ—स्वयं प्रकाशमान पदार्थ के पास जिस प्रकार रात और दिन का व्यवहार नहीं होता: क्योंकि प्रकाश के अभाव को रात कहते हैं और रात के अभाव को दिन कहते हैं। जो हमेशा प्रकाशमान रहता है उसके पास अन्धकार न होने से रात का व्यवहार नहीं होता और जब रात का व्यवहार नहीं है तब उसके अभाव में होने वाला दिन का व्यवहार भी नहीं होता, उसी प्रकार आप में भी बाध्यता और बाधक का व्यवहार नहीं है। आप किसी को बाधा नहीं पहुँचाते, इसलिए आप में बाधकत्व नहीं और कोई आपको भी बाधा नहीं पहुँचा सकता इसलिए आप बाध्य नहीं हैं। जिसमें बाध्य का व्यवहार नहीं उसमें बाधक का भी व्यवहार नहीं होता और जिसमें बाधक का व्यवहार नहीं उसमें बाध्य का भी व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों धर्म परस्पर में सापेक्ष हैं। उसी प्रकार

आपमें न लाघव ही है और न गुरुत्व ही। दोनों सापेक्ष धर्मों से रहित हैं। आप अगुरुलघुरूप हैं। हे भगवन्! आप समय की मर्यादा से भी रहित हैं अर्थात् अनन्तकाल तक ऐसे ही रहे आवेंगे।

अयाचित फल प्रदाता

इति स्तुतिं देव! विधाय दैन्याद् वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात् कश्छायया याचितयात्मलाभः॥३८॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! **(इति स्तुतिं विधाय)** इस प्रकार स्तुति करके मैं **(दैन्यात्)** दीनभाव से **(वरं न याचे)** वरदान नहीं माँगता, क्योंकि **(त्वं उपेक्षकः असि)** आप उपेक्षक—रागद्वेष रहित हो जैसे (**तरुं संश्रयतः**) वृक्ष का आश्रय करने वाले पुरुष को **(छाया स्वतः स्यात्)** छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है। **(याचितया छायया कः आत्मलाभः)** छाया की याचना से अपना क्या लाभ है?

टीका—भो देव! इत्यमुना प्रकारेण। स्तुतिं स्तवनं। विधाय दैन्यात् दीनभावात्। अहं वरं न याचे। त्वमुपेक्षकोऽसि। तरुं वृक्षं संश्रयतः पुरुषस्य। स्वतः स्वभावेन छाया स्यात्। तत्र प्रार्थना न लगति। छायया याचितया कः आत्मनः स्वस्य लाभो भवति न कोऽपीत्यर्थः।

भावार्थ—हे भगवन्! मैं सर्प से डसे हुए मृत प्रायः लड़के को आपके सामने लाया हूँ इसलिए स्तुति कर चुकने के बाद मैं आपसे यह वरदान नहीं माँगता कि आप मेरे लड़के को स्वस्थ कर दें, क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप रागद्वेष से रहित हैं इसलिए न किसी को कुछ देते हैं और न किसी से कुछ छीनते भी हैं। स्तुति करने वाले को तो फल की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। जैसे—जो मनुष्य वृक्ष के नीचे पहुँचेगा उसे छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है। छाया की याचना करने से कोई लाभ नहीं होता।

सद्बुद्धि प्रदाता श्रेष्ठ गुरु

अथास्ति दित्सा यदि वोपरोधस्त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिम्।
करिष्यते देव तथा कृपां मे कोवात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः॥३९॥

अन्वयार्थ—(अथ दित्सा अस्ति) यदि आपकी कुछ देने की इच्छा है **(यदि वा)** अथवा वरदान माँगो ऐसा **(उपरोधः 'अस्ति')** आग्रह है तो **(त्वयि एव सक्तां)** आपमें ही लीन **(भक्तिबुद्धिं)** भक्तिमयी बुद्धि को **(दिश)** देओ। मेरा विश्वास है कि **(देव)** हे देव! आप **(मे)** मुझ पर **(तथा)** वैसी **(कृपां करिष्यते)** दया करेंगे **(आत्मपोष्ये)** अपने द्वारा पोषण करने के योग्य शिष्य पर **(को वा सूरिः)** कौन आचार्य **(सुमुखो न 'भवति')** अनुकूल नहीं होता! अर्थात् सभी होते हैं।

टीका—भो देव! अथानन्तरं। यदि चेत्। दित्सा दातुमिच्छास्ति। वाऽथवा। उपरोधोऽनुग्रहोऽस्ति। तर्हि त्वय्येव सक्तां भक्तिबुद्धिः दिश देहि। भक्तेर्बुद्धिस्तां। भक्तिर्विद्यते यस्याः सा तां। भो देव तथा सा भक्तिबुद्धिः मे मम कृपां करिष्यते विधास्यतीति भावः। वा अथवा। आत्मनः स्वस्य पोषकः। सूरिः पंडितः। सुमुखो न स्यात्। आत्मपोषणे सर्वोऽपि सूरिः सुमुखो भवति।

भावार्थ—हे नाथ! यदि आपकी कुछ देने की इच्छा है तो मैं आपसे यही चाहता हूँ कि मेरी भक्ति आपमें ही रहे। मेरा विश्वास है कि आप मुझ पर उतनी कृपा अवश्य करेंगे। क्योंकि विद्वान् पुरुष अपने आश्रित रहने वाले शिष्य की इच्छाओं को पूर्ण ही करते हैं।

पुष्पिताग्रा छन्द

भक्ति का वैशिष्ट्य

वितरति विहिता यथाकथञ्चिज्जिन विनताय मनीषितानि भक्तिः।
त्वयि नुतिविषया पुनर्विशेषाद्दिशति सुखानि यशो धनं जयं[१] च॥४०॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! **(यथाकथञ्चित्)** जिस किसी तरह **(विहिता)** की गई **(भक्तिः)** भक्ति **(विनताय)** नम्र मनुष्य के लिए **(मनीषितानि)** इच्छित वस्तुएँ **(वितरति)** देती हैं **(पुनः)** फिर **(त्वयि)** आपके विषय में की गई **(नुतिविषया)** स्तुति विषयक भक्ति **(विशेषात्)** विशेष रूप से **(सुखानि)** सुख **(यशः)** कीर्ति **(धनं)** धन—सम्पत्ति **(च)** और **(जयम्)** जीत को **(दिशति)** देती है।

---

१. कवि ने 'धनंजयं' पद से अपने नाम का भी उल्लेख कर दिया है।

टीका—भो जिन! यथा कथञ्चित्। विहिता निर्मिता। भक्तिर्विनताय नम्रीभूताय। मनीषितानि मनोऽभिलषितानि। वितरति ददाति। पुनस्त्वयि विषये नुतिविषया स्तुतिविषयिणी भक्तिस्त्वद्गोचरीभूता या भक्तिः। विशेषात् सुखानि च पुनर्यशश्च पुनर्धनं च पुनर्जयं च दिशति ददाति।

भावार्थ—हे भगवन्! आपकी भक्ति से सुख, यश, धन तथा विजय आदि की प्राप्ति होती है।

ॐ

श्री भूपालकवि प्रणीता

जिनचतुर्विंशतिका

शार्दूलविक्रीडित छन्द

श्रीलीलायतनं महीकुलगृहं कीर्तिप्रमोदास्पदं,
वाग्देवीरतिकेतनं जयरमाक्रीडानिधानं महत्।
सः स्यात्सर्वमहोत्सवैकभवनं यः प्रार्थितार्थप्रदं,
प्रातः पश्यति कल्पपादपदलच्छायं जिनाङ्घ्रिद्वयम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(यः) जो मनुष्य **(प्रातः)** प्रभात के समय **(प्रार्थितार्थ-प्रदम्)** इच्छित वस्तुओं को देने वाले तथा **(कल्पपादपदलच्छायम्)** कल्पवृक्ष के पल्लव समान कान्ति के धारक **(जिनाङ्घ्रिद्वयम्)** जिनेन्द्र भगवान के चरण-युगल को **(पश्यति)** देखता है अर्थात् उनके दर्शन करता है **(सः)** वह **(श्रीलीलायतनम्)** लक्ष्मी का क्रीड़ागृह, **(महीकुल-गृहम्)** पृथ्वी का कुल भवन, **(कीर्तिप्रमोदास्पदम्)** यश और हर्ष का स्थान **(वाग्देवी-रतिकेतनम्)** सरस्वती का क्रीड़ा-मन्दिर **(महत् जयरमा-क्रीडानिधानम्)** विजयलक्ष्मी का विशाल क्रीड़ास्थान और **(सर्व-महोत्सवैकभवनम्)** सब बड़े बड़े उत्सवों का मुख्य घर **(स्यात्)** होता है।

टीका—यः कश्चित् पुमान्। जिनाङ्घ्रिद्वयं श्रीजिनेन्द्रपदकमलं। प्रातः प्रभाते। पश्यति विलोकयति स श्रिया लक्ष्म्या लीला तस्या आयतनं मन्दिरं स्यात्। स मह्याः पृथ्व्याः कुलगृहं सर्वपृथ्व्या अधिपतिः स्यात्। सा वाग्देवी सरस्वती तस्या अत्यर्थं केतनं गृहं स्यात्। स महत्। जयरमाया जयलक्ष्म्याः

क्रीडा तस्या निधानं स्यात्। किंविधं जिनाङ्घ्रिद्वयं? प्रार्थितानर्थान् प्रकर्षेण ददाति तत्। पुनः किंविधं जिनाङ्घ्रिद्वयं? कल्पपादपः कल्पवृक्षस्तस्य दलं पल्लवस्तद्वच्छाया आरक्तता यस्य तत्।

भावार्थ—जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल के समय जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करता है वह बहुत ही सम्पत्तिशाली होता है, पृथ्वी उसके वश में रहती है, उसकी कीर्ति सब ओर फैल जाती है, वह हमेशा प्रसन्न रहता है, उसे अनेक विद्याएँ प्राप्त हो जाती हैं, युद्ध में उसकी विजय होती है, अधिक क्या कहें उसे सब उत्सव प्राप्त होते हैं।

वसन्ततिलका छन्द

शान्तं वपुः श्रवणहारि वचश्चरित्रं,
सर्वोपकारि तव देव! ततः श्रुतज्ञाः।
संसारमारवमहास्थलरुन्दसान्द्र -
च्छायामहीरुह! भवन्तमुपाश्रयन्ते॥२॥

अन्वयार्थ—**(देव)** हे देव! **(तव)** आपका **(वपुः)** शरीर **(शान्तम्)** शान्त है, **(वचः)** वचन **(श्रवणहारि)** कानों को प्रिय हैं और **(चरित्रम्)** चारित्र **(सर्वोपकारि)** सबका भला करने वाला है **(ततः)** इसलिए **(संसार-मारव-महास्थलरुन्दसान्द्रच्छायामहीरुह!)** हे संसार रूप मरुस्थल में विस्तृत सघन छायावृक्ष! **(श्रुतज्ञाः)** शास्त्रों के जानने वाले विद्वान् पुरुष **(भवन्तम् उपाश्रयन्ते)** आपका आश्रय करते हैं।

टीका—भो देव! संसारलक्षणं यत्। मरोरिदं मारवं तदेव महास्थलं तत्र रुन्द्रा विस्तीर्णा सान्द्रा निबिडा गम्भीरा छाया तस्या महीरुहस्तस्यामन्त्रणे भो संसारमारवमहास्थलरुन्द्रसान्द्रच्छायामहीरुह। ततस्तस्मात् कारणात्। श्रुतज्ञाः पण्डिताः। भवन्तं त्वामुपाश्रयन्ते सेवन्ते। ततः कुतो यतः कारणात्तव भगवतो वपुः शरीरं शान्तं शान्तमुद्राङ्कितं। यतस्तव। वचः श्रवणहारि कर्णामृतप्रायं। श्रवणानि हरतीति श्रवणहारि। यतस्तव भगवतश्चरित्रं सर्वोपकारि। सर्व उपकारो विद्यते यस्मिन् तत्।

भावार्थ—मरुस्थल प्रदेशों में छाया वाले वृक्ष बहुत कम होते हैं

इसलिए मार्ग में रास्तागीरों को बहुत तकलीफ होती है। वे थके हुए रास्तागीर जब किसी छायादार वृक्ष को पाते हैं तब बड़े खुशी होते हैं और उसकी सघन शीतल छाया में बैठकर अपना सब परिश्रम भूल जाते हैं। इसी तरह संसार रूप मरुस्थल में आप जैसे छायादार वृक्षों की बहुत कमी है, इसलिए मोक्ष-नगर को जाने वाले पथिक रास्ता में बहुत तकलीफ उठाते हैं। पर जब उन्हें आप जैसे छायादार वृक्ष की प्राप्ति हो जाती है जब वे बहुत ही खुश होते हैं और आपके आश्रय में बैठकर अपने सब दु:ख भूल जाते हैं।

शार्दूलविक्रीडित छन्द

स्वामिन्नद्य विनिर्गतोऽस्मि जननीगर्भान्धकूपोदरा-
दद्योद्घाटितदृष्टिरस्मि फलवज्जन्मास्मि चाद्य स्फुटम्।
त्वामद्राक्षमहं यदक्षयपदानन्दाय लोकत्रयी-
नेत्रेन्दीवरकाननेन्दुममृतस्यन्दिप्रभाचन्द्रिकम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे नाथ! **(यत्)** जिस कारण से **(अहम्)** मैंने **(लोकत्रयी-नेत्रेन्दीवरकाननेन्दुम्)** त्रिभुवन के जीवों के नेत्ररूपी कुमुदवन को विकसित करने के लिए चन्द्रमा रूप तथा **(अमृतस्यन्दि-प्रभाचन्द्रिकम्)** जिनकी कान्तिरूपी चाँदनी अमृत को प्रवाहित करती है ऐसे **(त्वाम्)** आपको **(अक्षयपदानन्दाय)** अविनाशी पद के आनन्द के लिए **(अद्राक्षम्)** देखा अर्थात् आपके दर्शन किये **(तत्)** उस कारण से **(स्पष्टम्)** स्पष्ट है कि **(अद्य)** आज मैं **(जननीगर्भान्धकूपोदरात्)** माता के गर्भरूप अन्धेरे कुए से **(विनिर्गत: अस्मि)** निकला हूँ, **(अद्य उद्घाटितदृष्टि अस्मि)** आज प्रकट हुई है दृष्टि जिसकी ऐसा हुआ हूँ **(च)** और **(अद्य फलवज्जन्म अस्मि)** आज सफल जन्म हुआ हूँ।

टीका—भो देव! यद्यस्मात्कारणात् त्वामद्राक्षं व्यलोकयं किमर्थं? अक्षयपदस्यानन्द: सौख्यं तस्मै। भो स्वामिन्नद्य जननीगर्भान्ध-कूपोदराद्विनिर्गतोऽस्मि अहं नि:सृतोऽस्मि। जनन्या: गर्भ: सैवान्धकूपस्तस्योदरं मध्यं तस्मात्। भो देव च पुन:। अद्याहमुद्घाटितदृष्टिरस्मि। उद्घाटिता दृष्टिर्येन स। भो नाथ! अद्याहं स्फुटं प्रकटं फलवज्जन्मास्मि। फलवज्जन्म यस्य

सः। कीदृशं त्वां? लोकानां त्रयी त्रितयं तस्या नेत्राणि तान्येवेन्दीवरकाननानि तत्रेन्दुश्चद्रस्तं। पुनः कीदृशं त्वां? अमृतं स्यन्दते क्षरतीत्यमृतस्यन्दिनी एवंविधा या प्रभा कान्तिः सैव चन्द्रिका चन्द्रज्योत्स्ना यस्मिन्स तम्।

भावार्थ—हे भगवन्! आज आपके दर्शन कर मैं समझता हूँ कि आज ही पैदा हुआ हूँ। क्योंकि मेरा अब तक का समय आपके दर्शन के बिना व्यर्थ ही गया। आज ही मेरी दृष्टि खुली है, आपके पहले मानो मैं देखते हुए भी अन्धा था और आज ही मेरा जन्म सफल हुआ है।

निःशेषत्रिदशेन्द्रशेखर शिखा रत्नप्रदीपावली-
सान्द्रीभूतमृगेन्द्रविष्टरतटी माणिक्यदीपावलिः।
क्वेयंश्रीः क्व च निःस्पृहत्वमिदमित्यूहातिगस्त्वादृशः
सर्वज्ञानदृशश्चरित्रमहिमा लोकेश! लोकोत्तरः॥४॥

अन्वयार्थ—(निःशेषत्रिदशेन्द्रशेखरशिखारत्नप्रदीपावलीसान्द्री-भूतमृगेन्द्रविष्टरतटीमाणिक्यदीपावलिः) समस्त इन्द्रों के मुकुटों के अग्र भाग पर लगे हुए रत्नरूप दीपकों की पंक्ति से सघन है सिंहासन के तटपर लगे हुए मणिमय दीपकों की पंक्ति जिसमें ऐसी **(इदम् श्रीः)** यह लक्ष्मी **(क्व)** कहाँ? **(च)** और **(इदम्)** यह **(निःस्पृहत्वम्)** निःस्पृहता-इच्छा का अभाव **(क्व)** कहाँ? **(इति)** इस प्रकार **(लोकेश)** हे त्रिभुवन के स्वामिन्! **(त्वादृशः)** आप जैसे सर्वज्ञानी सर्वदर्शी की **(लोकोत्तरः)** सर्वश्रेष्ठ **(चरित्रमाहिमा)** चारित्र की महिमा **(ऊहातिगः 'अस्ति')** तर्क के अगोचर है।

टीका—लोकानामधोमध्योर्ध्ववर्तिजनानामीशः तस्यामन्त्रणे हे लोकेश! त्वादृशः परमेश्वरस्य चरित्रस्य चरित्रमहिमा लोकोत्तरः कुतो वर्णितः। यत् एवंविधो वर्तेत। इयं समवसरणादिप्रसिद्धाष्टमहाप्रातिहार्य-विभवलक्षणा श्रीर्लक्ष्मीः क्व? च पुनरिदं निःस्पृहत्वं सर्वसङ्गपरित्यागत्वं क्व? इत्येवमाकारको यो हि ऊहो वितर्कस्तस्मात्। अतिगः असहः विचारसहो न। किंविशिष्टा श्रीः? निःशेषाः समग्रा ये त्रिदशेन्द्राः शतेन्द्रास्तेषां शिखराणि मुकुटास्तेषां शिखाग्रभागास्तासु यानि रत्नानि तल्लक्षणा दीपावलिस्तया

सान्द्रीभूतं मृगेन्द्रविष्टरं सिंहासनं तस्य तटी तस्यां माणिक्यानि रत्नानि तल्लक्षणा दीपावलिर्यस्यां सा। किंविशिष्टस्य त्वादृश:? सर्वज्ञानं केवलज्ञानं तदेव दृक् नेत्रं यस्य स तस्य।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप समवसरण रूप लक्ष्मी से सहित होने पर भी उसमें स्पृहा से रहित हैं इससे मालूम होता है आपका चरित्र ऐसा क्यों है? इस तर्क का विषय नहीं है।

राज्यं शासनकारिनाकपति यत्त्यक्तं तृणावज्ञया,
हेलानिर्दलितत्रिलोकमहिमा यन्मोहमल्लो जित:।
लोकालोकमपि स्वबोधमुकुर स्यान्त: कृतं यत्त्वया।
सैषाश्चर्यपरम्परा जिनवर क्वान्यत्र सम्भाव्यते॥५॥

अन्वयार्थ—(जिनवर) हे जिनेन्द्र! **(शासनकारिनाकपति)** आज्ञा-कारी है इन्द्र जिसमें ऐसा राज्य **(यत्)** जो **(त्वया)** आपके द्वारा **(तृणावज्ञया)** तृण जैसी अनादर बुद्धि से **(त्यक्तम्)** छोड़ दिया गया है, **(हेला निर्दलित-त्रिलोकमहिमा)** अनायास ही खण्डित कर दी है तीन लोक के जीवों की महिमा जिसने ऐसा **(मोहमल्ल:)** मोहरूपी मल्ल **(यत्)** जो **(जित:)** जीता गया है तथा **(यत्)** जो **(लोकालोकम् अपि)** लोक अलोक का समाहार-समूह भी **(स्वबोधमुकुरस्य अन्त: कृतम्)** अपने ज्ञानरूप दर्पण के भीतर किया गया है सो **(एषा सा आश्चर्यपरम्परा)** यह प्रसिद्ध आश्चर्य की परिपाटी **(अन्यत्र क्व)** आपको छोड़कर दूसरी जगह कहाँ **(संभाव्यते)** संभव हो सकती है।

टीका—जिनेषु गणधरदेवादिषु वर: श्रेष्ठ:। निर्धारणे षष्ठीति निर्देशात् सप्तमीसमास:। तस्यामन्त्रणे हे जिनवर! सा एषा वक्ष्यमाणाश्चर्यपरंपरा महाकौतुकराजी। अन्यत्र क्व सम्भाव्यते। कुत्र विचार्यते। यद्यत: कारणात् त्वया भगवता राज्यं तृणावज्ञया त्यक्तं विसृष्टं। तृणानामवज्ञाऽवगणना तया। तर्हि राज्यं यत्किञ्चिद्भविष्यतीत्याशंक्याह। कीदृशं राज्यं? शासनकारी आज्ञाविधायी नाकपतिर्देवेन्द्रो यस्मिंस्तत्। यद्यत: कारणात् मोहमल्लो जित:। मोह एव मल्लो मोहमल्ल:। तर्हि मोहमल्ल: सामान्यो भविष्यतीत्याशंक्याह।

हेलया लीलया निर्द्दलितस्त्रिलोकानां महिमा येन सः। यद्यतः कारणात्। लोकालोकमपि स्वबोधमुकुरस्यान्तः केवलज्ञानदर्पणस्य मध्ये कृतं। स्वस्य बोध एव मुकुर स्तस्यान्तः।

भावार्थ—हे भगवन् आपने विशाल राज्य को तृण के समान तुच्छ समझ कर छोड़ दिया, आपने त्रिलोक-विजयी मोहमल्ल को जीत लिया और आपने लोक अलोक का ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह विशेषता आपको छोड़कर अन्य मत सम्बन्धी देवों में नहीं हो सकती।

दानं ज्ञानधनाय दत्तमसकृत्पात्राय सद्वृत्तये,
चीर्णान्युग्रतपान्सि तेन सुचिरं पूजाश्च बह्व्यः कृताः।
शीलानां निचयः सहामलगुणैः सर्वः समासादितो
दृष्टस्त्वं जिन येन दृष्टिसुभगः श्रद्धापरेण क्षणम्॥६॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! **(दृष्टिसुभगः)** आँखों को प्यारे लगने वाले **(त्वम्)** आप **(येन श्रद्धापरेण)** जिस श्रद्धालु के द्वारा **(क्षणम्)** एक क्षणभर भी **(दृष्टः)** देखे गये हो मानों **(तेन)** उसने **(ज्ञानधनाय)** ज्ञान ही है धन जिसका ऐसे तथा **(सद्वृत्तये)** सदाचारी **(पात्राय)** पात्र के लिए **(असकृत्)** कई बार **(दानम्)** दान **(दत्तम्)** दिया है, **(उग्रतपांसि चीर्णानि)** कठिन तपस्याओं का संचय किया है, **(सुचिरम्)** चिरकाल तक **(बह्व्यः पूजाः कृता)** अनेक पूजाएँ की हैं और **(अमलगुणैः सह)** निर्मल गुणों के साथ **(शीलानां सर्वः निचयः समासादितः)** शीलव्रतों का सब समूह प्राप्त कर लिया है।

टीका—भो जिन! येन दृष्टिसुभगः श्रद्धापरेण क्षणं मनागपि त्वं दृष्टः। तेन पुंसाऽसकृद्वारंवारं पात्राय दानं दत्तमेव। किं विशिष्टाय पात्राय? ज्ञानमेव धनं यस्य तत्तस्मै। पुनः किंभूताय? सत् समीचीनां वृत्तिराचरणं यस्य तत्तस्मै। पुनस्तेन पुन्सा सुचिरमुग्राणि यानि तपान्सि तान्यपि चीर्णानि कृतानि। पुनस्तेन पुंसाऽमलगुणैः सह शीलानां निचयः सर्वः समासादितः प्राप्तः। ब्रह्मचर्यमेवं पालितं। पुनस्तेन पुन्सा पूजा बह्व्यः कृता अर्चा बहुतरा विहिताः। दृष्ट्या सम्यक्त्वेन सुभगः सुन्दरो यो हि श्रद्धायां परश्च तेन।

भावार्थ—हे भगवन् जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक आपके दर्शन करता है उसे पात्र दान करने, तप आचरने, पूजा करने तथा शीलव्रत धारण करने का फल लगता है।

प्रज्ञापारमितः स एव भगवान्पारं स एव श्रुत-,
स्कन्धाब्धेर्गुणरत्नभूषण इति श्लाघ्यः स एव ध्रुवं।
नीयन्ते जिन येन कर्णहृदयालङ्कारतां त्वद्गुणाः,
संसाराहिविषापहारमणयस्त्रैलोक्यचूडामणेः ॥७॥

अन्वयार्थ—**(त्रैलोक्यचूडामणे! जिन!)** हे त्रिभुवन के चूड़ामणि स्वरूप! जिनेन्द्रदेव! **(संसाराहिविषापहारमणयः)** संसाररूपी साँप के विषको हरने के लिए मणिस्वरूप **(त्वद्गुणाः)** आपके गुण **(येन)** जिसके द्वारा **(कर्णहृदयालङ्कारताम्)** कान तथा मन के आभूषणपने को **(नीयन्ते)** प्राप्त कराये जाते हैं **(ध्रुवम्)** निश्चय से **(सः एव)** वही **(प्रज्ञापारम् इतः)** बुद्धि के पार को प्राप्त हुआ **(भगवान्)** भगवान्-ऐश्वर्यवान् है **(सः एव श्रुतस्कन्धाब्धेः पारम्)** वही शास्त्र-समुद्र का अन्तिम तट है और **(सः एव)** वही **(गुणरत्नभूषणः)** गुणरूपी रत्न ही हैं आभूषण जिसके **(इति)** इस तरह **(श्लाघ्यः)** प्रशंसनीय है।

टीका—भो जिन! त्रैलोक्यस्य चूडामणिस्तस्यामन्त्रणे भो त्रैलोक्य-चूडामणे! येन पुन्सा त्वद्गुणाः श्रीमदीया गाम्भीर्यौदार्यवीर्यमाधुर्यादयो गुणाः। कर्णहृदयालङ्कारतां नीयन्ते स एव पुमान् प्रज्ञाया पारस्तमितः प्राप्तः। स एव पुमान् श्रुतस्कन्धाब्धेः शास्त्राम्बुधेः पारं गतः प्राप्तः स एव पुमान् ध्रुवं निश्चितमिति कारणात् श्लाध्यः प्रशंसनीयः। इतीति किं? स एव पुमान् गुणरत्नभूषणः। गुणा एव रत्नानि तेषां भूषणं यस्य सः। कर्णश्च हृदयं च कर्णहृदयं तत्रालङ्कारस्तस्य भावस्तत्ता तां। किंविधास्त्वद्गुणाः? संसार एव अहिः सर्पस्तन्निराकरणे विषापहारमणयः गारुडमणयः।

भावार्थ—हे भगवन्! जो आपके गुणों को सुनकर हृदय में धारण करता है वही बुद्धिमान्, ऐश्वर्यवान्, ज्ञानवान् और गुणरूपी रत्नों से भूषित होता है।

मालिनी छन्द

जयति दिविजवृन्दान्दोलितैरिन्दुरोचि-
र्निचयरुचिभिरुच्चैश्चामरैर्वीज्यमानः ।
जिनपतिरनुरज्यन्मुक्तिसाम्राज्यलक्ष्मी -
युवतिनवकटाक्षक्षेपलीलां दधानैः॥८॥

अन्वयार्थ—(दिविजवृन्दान्दोलितैः) देवसमूह के द्वारा संचालित, **(इन्दुरोचिर्निचयरुचिभिः)** चन्द्रमा की किरण-समूह के समान उज्ज्वल कान्ति के धारी तथा **(अनुरज्यन्मुक्तिसाम्राज्यलक्ष्मीयुवतिकटाक्ष-क्षेपलीलाम् दधानैः)** अनुराग करने वाली मोक्षनगर की राज्यलक्ष्मी रूप तरुण स्त्री के कटाक्ष-संचार की शोभा को धारण किये हुए **(उच्चैः)** उन्नत **(चामरैः)** चँवरों के द्वारा **(वीज्यमानः)** ढोरे जाने वाले **(जिनपतिः)** जिनेन्द्र भगवान् **(जयति)** जयवन्त हैं-सबसे उत्कृष्ट हैं।

टीका—जिनपतिः सर्वज्ञः। जयति सर्वोत्कर्षेण प्रवर्तते। कीदृशो जिनपतिः? उच्चैश्चामरैश्चतुःषष्टिचामरैः। वीज्यतेऽसौ वीज्यमानः। किंविशिष्टैश्चामरैः? दिविजा देवास्तेषां वृन्दानि समृहास्तैरान्दोलितानि वीजितानि तैः। पुनरिन्दोश्चन्द्रस्य रोचींषि किरणास्तेषां निचयः समूहः तद्वद्रुचिः शोभा येषां तानि तैः। पुनः। अनुरज्यन्ती अनुरागं दधती या मुक्तिरेव साम्राज्यं तस्य लक्ष्मीस्तल्लक्षणा युवतिस्तरुणी तस्याः कटाक्षाणि तेषां क्षेपो मोचनं तस्य लीला तां दधानैः।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके दोनों ओर देवगण जो सफेद चँवर ढोर रहे हैं वे चँवर आप में आसक्त हुई मुक्ति की राज्यलक्ष्मीरूप स्त्री के सफेद कटाक्षों की तरह शोभायमान होते हैं। उन चँवरों से आप संसार में सर्वश्रेष्ठ मालूम होते हैं।

स्रग्धरा छन्द

देवः श्वेतातपत्रत्रयचमरिरुहाशोकभाश्चक्रभाषा-
पुष्पौघासारसिंहासनसुरपटहैरष्टभिः प्रातिहार्यैः।
साश्चर्यैर्भ्राजमानः सुरमनुजसभाम्भोजिनी भानुमाली
पायान्नःपादपीठीकृतसकलजगत्पालमौलिर्जिनेन्द्रः॥९॥

अन्वयार्थ—(साश्चर्यैः) आश्चर्ययुक्त **(श्वेतातपत्रत्रयचमरिरुहाशोकभाश्चक्र भाषापुरष्पौघासारसिंहासनसुरपटहैः)** सफेद छत्रत्रय, चँवर, अशोकवृक्ष, भामण्डल, दिव्यध्वनि, पुष्प-समूह की वृष्टि, सिंहासन और देव दुन्दुभिरूप **(अष्टभिः प्रातिहार्यैः)** आठ प्रतिहार्यों के द्वारा **(भ्राजमानः)** शोभायमान **(सुरमनुजसभाम्भोजिनीभानुमाली)** देव और मनुष्यों की सभा को विकसित करने के लिए सूर्य तथा **(पादपीठीकृत-सकल-जगत्पालमौलिः)** जिन्होंने सब राजाओं के मुकुटों को अपने पांवों का पीठ-आसन बनाया है ऐसे **(जिनेन्द्रः देवः)** जिनेन्द्र देव **(नः पायात्)** हम सबकी रक्षा करें।

टीका—जिनेन्द्रो देवो नोऽस्मान्। पायात् रक्षतु। कीदृशो जिनेद्रः? साश्चर्यैराश्चर्यकारकैरमीभिः प्रसिद्धैः। श्वेतातपत्रत्रयं च चमरिरुहाश्च अशोकश्च भाश्चक्रं च भाषा च पुष्पौघासाराश्च सिंहासनं च सुरपटहाश्च ते तैः। अष्टभिः प्रातिहार्यैः भ्राजमानः। भ्राजते शोभतेऽसौ भ्राजमानः। पुनः कीदृशो जिनेन्द्रः? सुरा देवा मनुजा मनुष्यादयस्तेषां सभास्तल्लक्षणा याऽम्भोजिनी तत्र भानुमाली सूर्यः। पुनः कीदृशो जिनेन्द्रः? अपादपीठाः पादपीठाः कृता इति पादपीठीकृताः सकलानां जगत्पालानामिन्द्रनागेन्द्र-चक्रवर्तिनां मौलयो येन सः।

भावार्थ—जो आठ प्रातिहार्यों से शोभायमान हैं, जो मनुष्य और देवों की सभा को हर्षित करते हैं तथा जिनके चरणों में जगत् के सब राजा अपना मस्तक झुकाते हैं वे जिनेन्द्रदेव हमारी रक्षा करें।

नृत्यत्स्वर्दन्तिदन्ताम्बुरुहवननटन्नाकनारीनिकायः ,
सद्यस्त्रैलोक्ययात्रोत्सवकरनिनदातोद्यमाद्यन्निलिम्पः।
हस्ताम्भोजातलीलाविनिहितसुमनोदामरम्यामरस्त्री-
काम्यः कल्याणपूजा विधिषु विजयते देव देवागमस्ते॥१०॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! **(ते)** आपके **(कल्याणपूजाविधिषु)** पञ्चकल्याणकों के पूजा कार्य में **(नृत्यत्स्वर्दन्तिदन्ताम्बुरुहवन-नटन्नाकनारी-निकायः)** नृत्य करते हुए ऐरावत हाथी के दांतों पर स्थित

कमल वनमें नृत्य कर रहा है देवांगनाओं का समूह जिसमें ऐसा, **(सद्यः)** शीघ्र ही **(त्रैलोक्य यात्रोत्सव -करनिनदातोद्यमाद्यन्निलिम्पः)** त्रिभुवन में यात्रा के उत्सव को करने वाली है ध्वनि जिसकी ऐसे बाजों से हर्षित हो रहे हैं देव जिसमें ऐसा तथा **(हस्ताम्भोजातलीलाविनिहितसुमनो-दामरम्यामरस्त्रीकाम्यः)** हस्त-कमलों के द्वारा क्रीड़ापूर्वक धारण की गई फूलों की मालाओं से रमणीय देवियों के द्वारा सुन्दर **(देवागमः)** देवागमन **(विजयते)** जयवन्त है-सर्वोत्कृष्ट है।

टीका—भो देव! ते तव भगवतः। कल्याणपूजाविधिषु पंचकल्याणक-महोत्सवेषु। देवानां चतुर्णिकायानां। आगमो विजयते राजते। कल्याणानां पूजा तासां विधयस्तेषु। कीदृशो देवागमः? नृत्यंश्चासौ स्वर्दन्ती ऐरावतस्तस्य दन्तास्तेष्वप्सरोऽपि कल्पनीयं। दन्तेषु अम्बुरुहाणि तेषां वनेषु नटन्नाकनारीणामप्सरसां निकायो यस्मिन् सः। पुनः कीदृशः? सद्यस्तत्कालं। त्रैलोक्यस्य यात्रा प्रयाणं तस्योत्सवकरो महोत्सवसमूहस्तस्य निनदः शब्दो येषां तानि एवंविधानि च तानि आतोद्यानि वादित्राणि च तैर्माद्यन्तो मुदं वहन्तो निर्लिम्पाः शतेन्द्रा यस्मिन् सः। पुनः हस्तान्येवाम्भोजानि तैः हस्तकमलै-र्लीलया विनिहितान्यारोपितानि च सुमनसां पुष्पाणां दामानि च तै रम्या मनोज्ञायामरस्त्रियश्च ताभिः काम्यतेऽभिलष्यते सः।

भावार्थ—हे भगवन् आपके कल्याणकों में जो देवों का आगमन होता है वह संसार में सबसे उत्कृष्ट है-उसकी जय होवे।

शार्दूलविक्रीडित छन्द

चक्षुष्मानहमेव देव भुवने, नेत्रामृतस्यन्दिनं
त्वद्वक्त्रेन्दुमतिप्रसादसुभगैस्तेजोभिरुद्भासितम् ।
तेनालोकयता मयानतिचिराच्चक्षुः कृतार्थीकृतं
द्रष्टव्यावधिवीक्षणव्यतिकरव्याजृम्भमाणोत्सवम् ॥११॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! **(येन)** जिस कारण से **(नेत्रामृतस्य-न्दिनम्)** आँखों में अमृत झराने वाले तथा **(अतिप्रसादसुभगैः)** अत्यन्त प्रसन्नता से सुन्दर **(तेजोभिः)** तेज के द्वारा **(उद्भासितम्)** शोभायमान् **(त्वद्वक्त्रेन्दुम्)** आपके मुखचन्द्र को **(आलोकयता)** देखते हुए **(मया)**

मैंने **(द्रष्टव्यावधिवीक्षणव्यतिकरव्याजृम्भमाणोत्सवम्)** दर्शनीय वस्तुओं की सीमा के देखने रूप व्यापार से बढ़ रहा है उत्सव जिनका ऐसी **(चक्षुः)** आँखों को **(अनति-चिरात्)** शीघ्र ही **(कृतार्थीकृतम्)** कृतार्थ किया है **(तेन)** उस कारण से **(भुवने)** संसार में **(अहम् एव)** मैं ही **(चक्षुष्मान् 'अस्मि')** नेत्रवान् हूँ।

टीका—भो देव! येन मया त्वद्वक्त्रेन्दुं तव मुखचन्द्रमालोकयता सताऽनतिचिरात् स्वल्पकालेनैव। चक्षुर्नेत्रं। कृतार्थीकृतं। अकृतमर्थं कृतमिति कृतार्थीकृतं। तव वक्त्रमेवेन्दुश्चन्द्रस्तं। भुवनेऽहमेव चक्षुष्मान् लोचनवान् जातः। कथंभूतं त्वद्वक्त्रेन्दुं? नेत्रमेवामृतं स्यन्दते क्षरतीति तं। पुनः किंविधं? अतिप्रसादेन अतिप्रसन्नतया सुभगानि तैः। तेजोभिरुद्भासितं शोभितं। कीदृशं चक्षुः? दृष्टुं योग्यं द्रष्टव्यं तदेवावधिवीक्षणं चावधिज्ञाननेत्रं तस्य व्यतिकरः सम्पर्कस्तेन व्याजृम्भमाणा विस्तरणशीला उत्सवा यस्मिन् तत्।

भावार्थ—हे भगवन्! जिन्होंने आपके दर्शन किये हैं संसार में उन्हीं के नेत्र सफल हैं-वे ही नेत्रवान् कहलाते हैं।

वसन्ततिलका छन्द

कन्तोः सकान्तमपि मल्लमवैति कश्चि-
न्मुग्धो मुकुन्दमरविन्दजमिन्दुमौलिम्।
मोघीकृतत्रिदशयोषिदपाङ्गपात -
स्तस्य त्वमेव विजयी जिनराज! मल्लः॥१२॥

अन्वयार्थ—**(जिनराज)** हे जिनेन्द्र! **(कश्चित् मुग्धः)** कोई मूर्ख **(कन्तोः)** कामदेव के विषय में **(मुकुन्दम्)** श्रीकृष्ण **(अरविन्दजम्)** ब्रह्मा और **(इन्दुमौलिम्)** महादेव को **(सकान्तम् अपि)** स्त्रियों से सहित होने पर भी **(मल्लम्)** मल्ल **(अवैति)** मानता है। किन्तु **(मोघीकृतत्रिदश-योषिदपाङ्गपातः)** व्यर्थ कर दिया है देवांगनाओं का कटाक्षपात जिनने ऐसे **(त्वम् एव)** आप ही **(तस्य)** उस काम के **(विजयी)** जीतने वाले **(मल्लः)** शूरवीर हैं।

टीका—जिनराजे एवं मल्लस्तस्यामन्त्रणे हे जिनराजमल्ल! तस्य

कन्तोः कामस्य। त्वमेव विजयी वर्त्तसे। विजयोऽस्यास्तीति विजयी। भो नाथ! कश्चिन्मुग्धः कोऽपि मूढः। सकान्तमपि कान्तया सह वर्तमानमपि। मुकुन्दं नारायणं। मल्लमवैति जानाति। पुनः। सकान्तमपि अरविन्दजं ब्रह्माणं। मल्लमवैति। पुनः। सकान्तमपीन्दुमौलिं। मल्लमवैति। कथंभूतस्त्वं? मोघीकृता निष्फलीकृतास्त्रिदशयोषितां शच्याद्यप्सरसामपाङ्गानां कटाक्षाणां पातो येनाऽसौ।

भावार्थ—हे भगवन्! कोई अज्ञानी जीव कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने काम को जीता था, कोई कहते हैं कि ब्रह्मा ने जीता था और कोई कहते हैं कि महादेव ने जीता था, पर उनका यह कहना मिथ्या है, क्योंकि वे तीनों ही देवता देव अवस्था में भी स्त्रियों से सहित थे। जो काम को जीत लेता है-काम विकार से रहित होता है उसे स्त्री रखने की क्या आवश्यकता? परन्तु आपके ऊपर मनुष्य स्त्रियों की क्या बात, देवांगनाएँ भी अपना असर नहीं डाल सकीं, इसलिए कामदेव के सच्चे विजेता आप ही हैं।

मालिनी छन्द

किसलयितमनल्पं त्वद्विलोकाभिलाषात्-
कुसुमितमतिसान्द्रं त्वत्समीपप्रयाणात्।
मम फलितममन्दं त्वन्मुखेन्दोरिदानीम्
नयनपथमवाप्ताद्देव पुण्यद्रुमेण ॥१३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव **(मम)** मेरा **(पुण्यद्रुमेण)** पुण्यरूपी वृक्ष, **(त्वद्विलोक अभिलाषात्)** आपके दर्शन करने की इच्छा से **(अनल्पम्)** अत्यधिक **(किसलयितम्)** पल्लवों से व्याप्त हुआ था, **(त्वत्समीप-प्रयाणात्)** आपके पास जाने से **(अतिसान्द्रम्)** अतिसघन **(कुसुमितम्)** फूलों से व्याप्त हुआ और **(इदानीम्)** इस समय **(त्वन्मुखेन्द्रोः)** आपके मुख चन्द्रमा से **(अमन्दम्)** अत्यन्त **(फलितम्)** फलों से व्याप्त हुआ है।

टीका—भो देव! इदानीं साम्प्रतमेव। मम पुण्यद्रुमेण मम सुकृत-कल्पवृक्षेण। त्वद्विलोकाभिलाषात् तव दर्शनाकाङ्क्षणात्। अनल्पं बहुलं यथा स्यात्तथा। किसलयितं पल्लवितं। तव विलोकस्त्वद्विलोकस्तस्याभिलाष-

स्तस्मात्। भो देव! इदानीमेव। मम पुण्यद्रुमेण। त्वत्समीपप्रयाणात् तव सान्निध्यागमनात्। अतिसान्द्रमतिनिबिडं यथा स्यात्तथा कुसुमितं पुष्पितं। तव समीपं त्वत्समीपं तस्य प्रयाणं तस्मात्। भो देव इदानीमेव। मम पुण्यद्रुमेण। त्वन्मुखेन्दोस्तव मुखचन्द्रस्य नयनपथं लोचनमार्गमवाप्तात् प्राप्तात्। अमन्दं यथा स्यात्तथा फलितं। तव मुखमेवेन्दुः त्वन्मुखेन्दुस्तस्य नयनयोः, पन्था इति नयनपथस्तं।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके दर्शन करने की इच्छा से पुष्परूपी वृक्ष लहलहा उठा था। आपके पास जाने से उसमें फूल लग जाते हैं और आपका साक्षात् दर्शन पा लेने पर उसमें फल लग जाते हैं। आपका दर्शन अत्यन्त पुण्य का कारण है।

त्रिभुवनवनपुष्यत्पुष्पकोदण्डदर्प -
प्रसरदवनवाम्भोमुक्तिसूक्तिप्रसूतिः ।
स जयति जिनराजव्रातजीमूतसङ्घः
शतमखशिखिनृत्यारम्भनिर्बन्धबन्धुः॥१४॥

अन्वयार्थ—**(त्रिभुवनवनपुष्यत्पुष्पकोदण्डदर्प-प्रसरदवन-वाम्भो-मुक्ति-सूक्ति-प्रसूतिः)** तीनलोकरूपी वन में बढ़ते हुए कामदेव सम्बन्धी अहंकार के प्रसाररूपी दावानल को बुझाने के लिए नूतन जलवृष्टिरूप सुन्दर उपदेश की है उत्पत्ति जिससे ऐसे तथा **(शतमख-शिखिनृत्यारम्भ-निर्बन्ध-बन्धुः)** इन्द्ररूपी मयूर के नृत्य प्रारम्भ करने में आग्रहकारी बन्धुस्वरूप **(सः)** वह **(जिनराज-व्रातजीमूतसङ्घः)** जिनेन्द्र समूह रूप मेघों का समुदाय (जयति) जयवन्त है अर्थात् सबसे उत्कृष्ट है।

टीका—स जिनराजव्रातजीमूतसङ्घो जयति। जिनानां गणधरदेवानां राजान इति जिनराजानस्तेषां व्राताः समूहास्त एव जीमूतां मेघास्तेषां सङ्घः। कथम्भूतः सः? त्रिभुवनमेव वनं तत्र पुष्यतीति। एवंविधः पुष्पकोदण्डो कन्दर्पस्तस्य दर्पोऽहंकारस्तस्य प्रसरस्तल्लक्षणो यो हि दवोः दावानलस्तन्निराकरणे नवाम्भःप्राया या मुक्तिस्तल्लक्षणा याः सूक्तयः सुबीजवचनानि तासां प्रसूतिरुत्पत्तिर्यस्मात्सः। पुनः किंविधः सङ्घः? शतमखा

देवेन्द्रास्तल्लक्षणा ये शिखिनो मयूरास्तेषां नृत्यारम्भः तस्य निर्बन्धः। कारणं तत्र बन्धुः श्रेष्ठः साक्षात्कारणमित्यर्थः।

भावार्थ—जिनका उपदेश, काम अग्नि को नष्ट करने के लिए जलधारा के समान है और जिनके सामने स्वर्ग का इन्द्र मनोहर नृत्य करता है वे जिनेन्द्र देव संसार में सबसे श्रेष्ठ हैं।

भूपालस्वर्गपालप्रमुखनरसुरश्रेणिनेत्रालिमाला -
लीलाचैत्यस्य चैत्यालयमखिलजगत्कौमुदीन्दोर्जिनस्य।
उत्तंसीभूतसेवाञ्जलिपुटनलिनीकुड्मलस्त्रिः परीत्य
श्रीपादच्छाययापस्थितभवदवथुः संश्रितोस्मीव मुक्तिम्॥१५॥

अन्वयार्थ—**(भूपालस्वर्गपालप्रमुखनरसुरश्रेणिनेत्रालिमाला-लीला-चैत्यस्य)** चक्रवर्ती और इन्द्र हैं प्रधान जिनमें ऐसे मनुष्य और देवसमूह के नेत्ररूपी भ्रमर पंक्ति की क्रीड़ा के लिए चैत्यवृक्ष तथा **(अखिल-जगत्कौमुदीन्दोः)** सम्पूर्ण संसाररूप कुमुद समूह के लिए चन्द्रमा स्वरूप **(जिनस्य)** जिनेन्द्र देव के **(चैत्यालयं त्रिःपरीत्य)** मन्दिर की तीन प्रदक्षिणा देकर **(उत्तंसीभूतसेवाञ्जलिपुट-नलिनीकुड्मलः)** आभरणरूप किया है सेवा से वह अञ्जलिपुट रूप कमलिनी के मुकुल **(बौंडी)** जिसने ऐसा तथा **(श्रीपादच्छायया)** आपके श्री चरण की छाया के द्वारा **(अपस्थित-भवदवथुः)** दूर हो गया है संसार का सन्ताप जिसका ऐसा मैं **(मुक्तिम् इव संश्रितः अस्मि)** मानो मुक्ति को ही प्राप्त हो गया हूँ।

टीका—भो देव! जिनस्य भगवतश्चैत्यालयं त्रिःपरीत्य त्रिवारं प्रदक्षिणीकृत्याहं मुक्तिमिव संश्रितोऽस्मि। किंविधस्य जिनस्य? भूपालश्चक्री स्वर्गपालो देवेन्द्रस्तथा नागेन्द्रश्च ते प्रमुखा आदिर्येषां त एवंविधाश्च ते नरसुराश्च तेषां श्रेणयस्तासां नेत्राणि तल्लक्षणा यालिमाला भ्रमरधोरणी तस्या लीलायै लीलार्थं चैत्यो वृक्षविशेषस्तस्य। पुनः किंविशिष्टस्य? अखिलं च तज्जगच्च तल्लक्षणा या कौमुदी चन्द्रिका रात्रिस्तत्रेन्दुश्चन्द्रस्तस्य। कीदृशोऽहं? उत्तंसीभूतं मौलीभूतं सेवार्थमञ्जलिपुटमेव नलिनीकुड्मलं यस्य सः। पुनः कीदृशोऽहं? श्रीपादस्य छायया प्रस्थापितः प्रस्थानीभूतः भवः संसारस्तल्लक्षणो दवथुर्दावानलो यस्य सः।

भावार्थ—हे भगवन् आपके मन्दिर की तीन परिक्रमा देकर जब आपके चरणों के समीप हाथ जोड़कर बैठता हूँ तब मुझे जो आनंद होता है उससे मैं समझने लगता हूँ कि मैं अब मुक्ति को ही प्राप्त हो गया हूँ।

वसन्ततिलका छन्द

देव त्वदङ्घ्रिनखमण्डलदर्पणेस्मि-
न्नर्घ्ये निसर्गरुचिरे चिरदृष्टवक्त्रः।
श्रीकीर्तिकान्तिधृतिसङ्गमकारणानि
भव्यो न कानि लभते शुभमङ्गलानि ॥१६॥

अन्वयार्थ—**(देव)** हे देव **(अर्घ्ये)** प्रशंसनीय और **(निसर्गरुचिरे)** स्वभाव से सुन्दर **(अस्मिन् त्वदङ्घ्रिनखमण्डलदर्पणे)** आपके इस नखमण्डलरूपी दर्पण में **(चिरदृष्टवक्त्रः)** बहुत समय तक देखा है मुख जिसने ऐसा **(भव्यः)** भव्यजीव **(श्री कीर्तिकान्तिधृतिसङ्गम-कारणानि)** लक्ष्मी, यश, कान्ति और धीरज की प्राप्ति के कारणस्वरूप **(कानि शुभमङ्गलानि)** किन शुभ मंगलों को **(न लभते)** नहीं प्राप्त होता? अर्थात् सभी को होता है।

टीका—भो देव! भव्यः प्राणी। अस्मिन्प्रसिद्धे त्वदङ्घ्रिनखमण्डलदर्पणे तव चरणनखमण्डलमुकुरे। चिरं चिरकालं। दृष्टवक्त्रः स तु कानि शुभमङ्गलानि न लभते न प्राप्नोति। अपि तु लभत इत्यर्थः। तव अङ्घ्री त्वदङ्घ्री त्वदङ्घ्र्योर्नखास्तेषां मण्डलं तल्लक्षणो यो हि दर्पण आदर्शः तस्मिन्। चिरं चिरकाले। दृष्टं वक्त्रं येनासौ सः। शुभानि च तानि मंगलानि च शुभमंगलानि। पंचकल्याणानीत्यर्थः। कीदृशं त्वदङ्घ्रिनखमण्डलदर्पणे? अर्घायार्हो योग्योऽर्घ्यस्तस्मिन्। पुनः किंविधे? निसर्गेण स्वभावेन रुचिरो मनोज्ञस्तस्मिन्। कीदृशानि शुभमंगलानि। श्रीश्च कीर्तिश्च कान्तिश्च धृतिश्च श्रीकीर्तिकान्तिधृतयस्तासां संगमो मेलापकस्तस्य कारणानि।

भावार्थ—हे भगवन्! जो भव्य आपके नखमण्डलरूपी दर्पण में अपना मुँह देखता है अर्थात् आपके चरणों में नमस्कार करता है वह हर एक तरह के मंगलों को प्राप्त होता है। लोक में दर्पण में मुँह देखना मंगल का कारण माना जाता है।

मालिनि छन्द

जयति सुरनरेन्द्रश्री सुधानिर्झरिण्या:
कुलधरणिधरोयं जैनचैत्याभिराम:।
प्रविपुलफलधर्मानोकहाग्रप्रवाल -
प्रसरशिखरशुम्भत्केतन: श्रीनिकेत:॥१७॥

अन्वयार्थ–(सुरनरेन्द्रश्रीसुधानिर्झरिण्या:) देवेन्द्र और राजाओं की लक्ष्मीरूप अमृत के झरनों की उत्पत्ति के लिए **(कुलधरणिधर:)** कुलाचल तथा **(प्रविपुलफलधर्मानोकहाग्रप्रवाल-प्रसरशिखर-शुम्भत्केतन:)** अत्यधिक फल वाले धर्मरूप वृक्ष के अग्रभाग पर स्थित किसलय समूह की शिखर की तरह शोभायमान है पताका जिस पर ऐसा **(श्रीनिकेत:)** लक्ष्मी का गृह स्वरूप **(अयम्)** यह **(जैनचैत्याभिराम:)** जिनेन्द्र देव की प्रतिमाओं से सुंदर चैत्यालय **(जयति)** जयवन्त है-सबसे उत्कृष्ट है।

टीका–सुरनरेन्द्रश्रीसुधानिर्झरिण्या:। अयं कुलधरणिधर: कुलाचलो जयति। सुराश्च नराश्च सुरनरास्तेषामिन्द्रास्तेषां श्रियस्तल्लक्षणा या: सुधास्तासां निर्झरिणी नदी तस्या:। किंविध: कुलधरणिधर:? जैनानां चैत्यानि जैनचैत्यानि तैरभिरामो मनोज्ञ:। पुन: किंविध:? प्रविपुलानि विस्तीर्णानि फलानि यस्मिन् स प्रविपुलफल:। एवंविधश्चासौ धर्मलक्षणोऽनोकहश्च तस्याग्रप्रवाला: कोमला: पल्लवा यस्मिन् स:। पुन: किंविध:? प्रसराणि च तानि शिखराणि च तेषु शुभन्ति केतनानि यस्मिन् स:। पुन: श्रिया लक्ष्म्या: निकेत: स्थानम्।

भावार्थ–हे भगवन्! आपका वह मन्दिर संसार में सबसे उत्कृष्ट है जिसमें भक्तिपूर्वक जाने से देवेन्द्र तथा राजा-महाराजाओं की सम्पत्ति प्राप्त होती है जिस पर मनोहर पताका फहरा रही है और जो लक्ष्मी का घर है।

विनमदमरकान्ताकुन्तलाक्रान्तकान्ति-
स्फुरितनखमयूखद्योतिताशान्तराल: ।
दिविजमनुजराजव्रातपूज्यक्रमाब्जो
जयति विजितकर्मारातिजालो जिनेन्द्र: ॥१८॥

अन्वयार्थ—(विनमदमरकान्ताकुन्तलाक्रान्तकान्तिस्फुरितनख-मयूखद्योति-ताशान्तरालः) नमस्कार करती हुई देवांगनाओं के केशों से प्रतिबिम्बित कांति से शोभायमान नखचन्द्र की किरणों से प्रकाशित कर दिया है दिशाओं का मध्य भाग जिनने ऐसे तथा **(दिविज-मनुजराजव्रात-पूज्यक्रमाब्जः)** देव और मनुष्यों के राजसमूह से पूजने योग्य हैं चरणकमल जिनके ऐसे और **(विजित-कर्मारातिजालः)** जीत लिया है कर्मरूपी शत्रुओं का समूह जिनने ऐसे **(जिनेन्द्रः)** जिनेन्द्रदेव **(जयति)** जयवन्त है—सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तमान हैं।

टीका—जिनेन्द्रोऽष्टप्रातिहार्यविभवविराजमानोऽर्हन् जयति। कथं-भूतो जिनेन्द्रः? विनमन्त्यो नमस्कारं कुर्वन्त्यश्च ता अमरकान्ताः। शच्याद्यप्सरसस्तासां कुन्तलाः केशास्तैराक्रान्ताः कान्तयो यैस्त एवंविधाश्च ते। स्फुरितनखाश्च तेषां मयूखाः किरणास्तैर्द्योतितानि-आशानां दिशानां अन्तरालानि मध्यभागा येन सः। पुनः किंविधः? दिविजा देवा मनुजा मनुष्यास्तेषां राजान इन्द्राश्चक्रवर्त्यादयस्तेषां व्राताः समूहास्तैः पूज्योऽर्चितुं योग्ये क्रमाब्जे चरणकमले यस्य सः। पुनः किंलक्षणः? विजितं कर्मलक्षणा येऽरातयो वैरिणस्तेषां जालं येनासौ।

भावार्थ—जिनके चरणों के नखों की कांति से दशों दिशाएँ प्रकाशमान है, जिनके चरणों की देवेन्द्र और नरेन्द्र पूजा करते हैं तथा जिन्होंने कर्मों का क्षय कर दिया है, ऐसे जिनेन्द्रदेव ही सबसे उत्कृष्ट है।

वसन्ततिलका छन्द

सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमङ्गलाय,
दृष्टव्यमस्ति यदि मङ्गलमेव वस्तु।
अन्येन किं तदिह नाथ तवैव वक्त्रं,
त्रैलोक्यमङ्गलनिकेतनमीक्षणीयम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन् **(सुप्तोत्थितेन)** सोकर उठे हुए **(सुमुखेन)** सुन्दर मुख वाले पुरुष के द्वारा **(सुमङ्गलाय)** कल्याण की प्राप्ति के लिए **(यदि मङ्गलम् एव वस्तु द्रष्टव्यम् अस्ति)** यदि मंगलरूप

ही वस्तु देखी जानी चाहिए **(तत्)** तो **(अन्येन किम्)** और से क्या? **(त्रैलोक्यमङ्गल-निकेतनम्)** तीनों लोकों के मंगलों के घर स्वरूप **(तव वक्त्रम् एव)** आपका मुख ही **(ईक्षणीयम्)** देखना चाहिए।

टीका—भो नाथ! इह जन्मनि भवान्तरे वा सुप्तोत्थितेन प्रातः शयनादुत्थितेन पुन्सा। सुमुखेन कृत्वा सुमङ्गलाय माङ्गल्यनिमित्तम् यदि चेन्मङ्गलमेव वस्तु द्रव्यमेवास्ति तर्हि तवैव भगवतो वक्त्रं मुखकमलमीक्षणीयं विलोकनीयम्। पूर्वं सुप्तःपश्चादुत्थितः सुप्तोत्थित-स्तेन। सुष्टु च तन्मुखं च सुमुखं तेन। सुष्टु च तन्मङ्गलं च सुमङ्गलं तस्मै सुमङ्गलाय। प्रातरेव सु पुरुषेण किंचिन्मङ्गलमेव दर्पणादि वस्तु द्रष्टव्यामित्याचारोऽस्ति तर्हि। तवैव वक्त्रं प्रेक्ष्यमनेन दर्पणादिमाङ्गल्यवस्तुना किं साध्यम्। कीदृशं वक्त्रम्। त्रैलोक्ये यानि मङ्गलानि तेषां निकेतनं स्थानम्।

भावार्थ—यदि सोकर उठने के बाद नियम से किसी मंगल वस्तु को देखना चाहिए ऐसा नियम है तो जिनेन्द्र भगवान् के मुख को ही देखिये क्योंकि वह सब मंगलों का घर है।

शार्दूलविक्रीडित छन्द

त्वं धर्मोदयतापसाश्रमशुकस्त्वं काव्यबन्धक्रम-
क्रीडानन्दनकोकिलस्त्वमुचितः श्रीमल्लिकाषट्पदः।
त्वं पुन्नागकथारविन्दसरसी - हंसस्त्वमुत्तंसकैः
कैर्भूपाल! न धार्यसे गुणमणिस्त्रङ्मालिभिर्मौलिभिः॥२०॥

अन्वयार्थ—**(भूपाल)** हे जगत्पालक! **(त्वम्)**आप **(धर्मोदयताप-साश्रमशुकः)** धर्म के अभ्युदयरूपी तपोवन के तोता हैं **(त्वम्)** आप **(काव्यबन्धक्रम-क्रीडानन्दनकोकिलः)** काव्यरचना की क्रमक्रीड़ा रूप नंदनवन के कोकिल हैं। **(त्वम्)** आप **(पुन्नागकथारविंदसरसीहंसः)** श्रेष्ठ पुरुषों की कथारूपी कमलसरोवर के हंस हैं और **(त्वम्)** आप **(उत्तंसकैः)** अपने आपको भूषित करने सजाने वाले **(कैः)** किन पुरुषों के द्वारा **(गुणमणिस्त्रङ्मालिभिः)** गुणरूप मणियों की माला के समूह से उपलक्षित **(मौलिभिः)** मुकुटों के द्वारा **(न धार्यसे)** धारण नहीं किये

जाते? अर्थात् सभी के द्वारा धारण किये जाते हैं?

टीका—भो भूपाल! भो जगत्पाल, कैः कैराजराजिभिरुत्तंसैर्नम्रीभूतैर्मौलिभिः कृत्वा त्वं न धार्यसे। कीदृशैर्मौलिभिः? गुणलक्षणा ये मणयो रत्नानि तेषां स्रग्माला येषु ते तैः। भो देव! धर्मस्योदयो यस्मिन् स चासौ तापसानामाश्रमश्च तत्र शुकस्त्वमेव। भो देव! काव्यानां बन्धक्रमो बन्धनानुक्रमस्त्वमेव। भो देव! क्रीडार्थं यन्नन्दनं वनं तत्र कोकिलस्त्वमेवोचितो योग्यः। भो देव! श्रीमल्लिकासु जातिषु षट्पदो भ्रमरस्त्वमेव। भो देव! पुल्लक्षणा ये नागाः हस्तिनस्तेषां कथास्ता एवारविन्दानि कमलानि तैर्युक्ता या सरस्यः सरान्सि तत्र हन्सस्त्वमेव।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस प्रकार तोता तपोवन की शोभा बढ़ाता है उसी प्रकार आप भी धर्म के उदय की शोभा बढ़ाते हैं। जिस प्रकार कोयल अपनी मीठी आवाज से नन्दन वन की शोभा बढ़ा देनी है उसी प्रकार आप भी अपने चरित्र से काव्यरचना की शोभा बढ़ा देते हैं अर्थात् जिस काव्यरचना में आपका चरित्र लिखा जाता है बहुत सुन्दर हो जाती है। जिस प्रकार भौंरा मालती के फूलों का रसास्वाद करता है उसी प्रकार आप भी अनन्तचतुष्टयरूपी लक्ष्मी का रसास्वाद करते हैं। जिस प्रकार हंस कमलों के वन की शोभा बढ़ाता है उसी तरह आप भी श्रेष्ठ पुरुषों की कथाओं की शोभा बढ़ाते हैं और जिस प्रकार अपने आपको अलंकृत करने वाले पुरुष मालाओं से शोभायमान मुकुटों को अपने शिर पर धारण करते हैं उसी प्रकार अपने आपको उत्तम बनाने वाले मनुष्य आपको अपने मस्तक से धारण करते हैं अर्थात् शिर झुकाकर प्रणाम करते हैं।

मालिनी

शिवसुखमजरश्रीसङ्गमं चाभिलष्य
स्वमभिनियमयन्ति क्लेशपाशेन केचित्।
वयमिह तु वचस्ते भूपतेर्भावयन्त-
स्तदुभयमपि शश्वल्लीलया निर्विशामः॥२१॥

अन्वयार्थ—**(केचित्)** कितने ही मनुष्य **(शिवसुखम्)** मोक्ष-सुख **(च)** और **(अजरश्रीसंगमम्)** देवों की लक्ष्मी के संगम को **(अभिलष्य)**

चाहकर **(स्वम् अभि)** अपने आपको **(क्लेशपाशेन)** दु:खों के समूह **(नियमयन्ति)** नियमित करते हैं अर्थात् तरह-तरह की तपस्याओं और व्रत आदि के कठिन नियमों से अपने आपको दु:खी करते हैं **(तु)** किन्तु **(वयम्)** हम लोग **(शश्वत्)** हमेशा **(इह)** इस संसार में **(ते भूपते:)** आप जगत्पालक के **(वच: भावयन्त:)** वचनों की भावना करते हुए **(लीलया)** अनायास ही **(तदुभयम् अपि)** उन दोनों अर्थात् मोक्ष और स्वर्ग को **(निर्विशाम:)** प्राप्त हो जाते हैं।

टीका—भो देव! इह जगति केचिज्जना: शिवसुखं मोक्षश्रीसुखं॥ च पुनरजरा देवास्तेषां श्रीर्लक्ष्मीस्तस्या: सङ्गमस्तमभिलष्याभिलाषं विधाय। स्वमात्मानं। क्लेशपाशेन कष्टेन कृत्वाभिनियमयन्ति ते पश्यन्ति। तु पुनर्वयन्ते तव भूपतेर्जगन्नाथस्य वचोऽनुभावयन्तोऽनुभवन्त: सन्तस्त-दुभयमपि शिवसुखमजरश्रीसङ्गममपि शश्वन्निरन्तरं लीलया कृत्वा निर्विशाम: प्रविशाम:।

भावार्थ—हे प्रभो! जो मनुष्य आपके सिद्धान्तों से परिचित नहीं हैं-वे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के लिए तरह तरह के नियम करते हैं-कठिन तपस्याओं के क्लेश उठाते हैं फिर भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते, पर हम लोग आपके उपदेश का रहस्य समझकर अनायास ही उन दोनों को प्राप्त कर लेते हैं। आपके वचनों की महिमा अपार है।

शार्दूलविक्रीडित

देवेन्द्रास्तव मज्जनानि विदधुर्देवाङ्गना मङ्गला-
न्यापेठु: शरदिन्दुनिर्मलयशो गन्धर्वदेवा जगु:।
शेषाश्चापि यथानियोगमखिला: सेवां सुराश्चक्रिरे
तत्किं देव वयं विदध्म इति नश्चित्तं तु दोलायते॥२२॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! **(देवेन्द्रा:)** इन्द्रों ने **(तव)** आपका **(मज्जनानि विदधु:)** अभिषेक किया, **(देवाङ्गना: मङ्गलानि आपेठु:)** देवाङ्गनाओं ने मङ्गलपाठ पढ़े, **(गन्धर्वदेवा:)** गन्धर्व देवों ने **(शरदिन्दु-निर्मलयश: जगु:)** शरद्ऋतु के चन्द्रमा की तरह उज्ज्वल यश गाया **(च)** और **(शेषा: अपि अखिला: सुरा)** बाकी बचे हुए समस्त देवों ने

(यथानियोगम्) अपने कर्तव्य के अनुसार **(सेवाम् चक्रिरे)** सेवा की **(तत् वयं तु किं विदध्म:)** अब हमलोग क्या करें **(इति)** इस प्रकार **(न:)** हमारा **(चित्तम्)** मन **(दोलायते)** चञ्चल हो रहा है।

टीका—भो देव! सौधर्मेन्द्रादयस्तव परमेश्वरस्य मज्जनानि विदधुरभिषेकान्निष्पादयन्ति स्म। देवाङ्गनाश्चाप्सरसश्च तव मङ्गलान्यापेठुः। गन्धर्वदेवा हाहाहूहूप्रमुखास्तव शरदिन्दुनिर्मलं यशो जगुर्जेगायन्ते स्म॥ शरद् इन्दुश्चन्द्रस्तद्वन्निर्मलं च तद्यशश्च। च पुनः शेषाश्चाप्यखिलाः सुरा। यथा नियोगं यथायोग्यं। सेवां भक्तिं। चक्रिरे कुर्वन्ति स्म। भो देव! तत्तस्मात्कारणात् वयं किं विदध्मो वयं किं कुर्म्मः। इति कारणात् नोऽस्माकं। चित्तं अन्तःकरणं दोलयत आन्दोलायमानं भवति।

भावार्थ—हे प्रभो! करने योग्य जो सेवाएँ थीं उन्हें सब देव-देवियाँ कर चुकीं, अब हम लोग आपकी कौन सी सेवा करें? इस तरह हमारा चित्त निरन्तर विचारों के हिंडोले में झूलता रहता है।

देव त्वज्जननाभिषेकसमये रोमाञ्चसत्कञ्चुकै-
र्देवेन्द्रैर्यदनर्ति नर्त्तनविधौ लब्धप्रभावैः स्फुटम्।
किञ्चान्यत्सुरसुन्दरीकुचतटप्रान्तावनद्धोत्तम -
प्रेङ्खद्वल्लकिनादझङ्कृतमहो तत्केन संवर्ण्यते॥२३॥

अन्वयार्थ—**(देव)** हे देव! **(त्वज्जननाभिषेकसमये)** आपके जन्माभिषेक के समय **(नर्तनविधौ)** नृत्य कार्य में **(लब्धप्रभावैः)** प्राप्त किया है प्रभाव जिन्होंने ऐसे **(देवेन्द्रैः)** इन्द्रों ने **(रोमाञ्चसत्कञ्चुकैः)** रोमांचरूप कंचुक वस्त्र को धारण करते हुए **(यत् स्फुटम् अनर्ति)** जो स्पष्ट नृत्य किया गया था **(किं च अन्यत्)** और जो **(सुरसुन्दरी-कुचतटप्रान्त-वनद्धोत्तम प्रेङ्खद्वल्लकिनादझङ्कृतम्)** देवांगनाओं के स्तन तट के समीप बन्धी हुई उत्तम शब्द करती हुई वीणा के शब्द की झंकार हुई थी **(अहो तत् केन वर्ण्यते)** आश्चर्य है कि उस सबका वर्णन किससे हो सकता है? अर्थात् किसी से नहीं।

टीका—भो देव! त्वज्जननाभिषेकसमये देवेन्द्रैः सौधर्मप्रमुखैः

शतेन्द्रैर्यदनर्ति नटितम्। अहो–इत्याश्चर्ये तन्नृत्यं स्फुटं प्रकटम् केन पुंसा संवर्ण्यते वर्णयितुं शक्यते। न केनापि संवर्ण्यते। तव जननं त्वज्जननं तस्याभिषेक–समयस्तस्मिन्। कीदृशैर्देवेन्द्रैरोमाञ्चलक्षणाः सत्समीचीनाः कुञ्चुकानिचोला येषान्तैः। पुनः कीदृशैर्देवेन्द्रैः? नर्तनविधौ लब्धः प्राप्तः प्रभावो महिमा यैस्ते तैः। किं चान्यत् सुराणां देवानां सुन्दर्य्यस्तासां कुचतटानि तेषां प्रान्ता अग्रभागास्तेष्ववनद्धास्थापितां उत्तमा मनोज्ञाः प्रेंखत्यश्चञ्चला या वल्लक्यो वीणास्तासां नादस्तेन झंकृतं रणितं तदपि अहो आश्चर्ये केनापि संवर्ण्यते।

भावार्थ–हे भगवन्! जन्माभिषेक के समय इन्द्र ने जो नृत्य किया था और देवांगनाओं ने वीणा बजाई थी उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता।

देव त्वत्प्रतिबिम्बमम्बुजदलस्मेरेक्षणं पश्यतां
यत्रास्माकमहो महोत्सवरसो दृष्टेरियान्वर्तते।
साक्षात्तत्र भवन्तमीक्षितवतां कल्याणकाले तदा
देवानामनिमेषलोचनतया वृत्तः सः किं वर्ण्यते ॥२४॥

अन्वयार्थ–(देव) हे देव! **(अम्बुजदलस्मेरेक्षणम्)** कमल की पांखुड़ी की तरह विकसित है नेत्र जिसमें ऐसे **(त्वत्प्रतिबिम्बम्)** आपके प्रतिबिम्ब–प्रतिमा को देखने वाले हम लोगों की आँखों को **(यत्र)** जहाँ **(अहो)** आश्चर्यकारक **(इयान्)** इतना **(महोत्सवरसः)** महान् आनन्द **(वर्तते)** हो रहा है **(तत्र)** वहाँ **(तदा)** उस समय **(कल्याणकाले)** पञ्चकल्याणकों के काल में **(अनिमेषलोचनतया)** टिमकार रहित नेत्रों से **(भवन्तम्)** आपको **(साक्षात्)** साक्षात् रूप से **(ईक्षितवताम्)** देखने वाले **(देवानाम्)** देवों के **(वृत्तः)** प्रकट हुआ **(सः)** वह आनंद **(किम्)** क्या **(वर्ण्यते)** वर्णित किया जा सकता है अर्थात् नहीं किया जा सकता।

टीका–भो देव! अहो इति आश्चर्ये! यत्राम्बुजदलस्मेरेक्षणं त्वत्प्रतिबिम्बं पश्यतामस्माकं दृष्टेर्नेत्रस्येयान् महोत्सवरसो वर्तते। तत्र मेरौ। तदा कल्याणकाले जन्माभिषेके। साक्षाद्भवन्तं साक्षाद्वर्तमानं भगवन्त–

मनिमेषलोचनतया मेषोन्मेषरहिततयेक्षितवतां विलोकयतां देवानां दृष्टेर्महोत्सवो यस्तस्य रसो वृत्तो महोत्सवरसः। किं वर्ण्यते वर्णयितुं शक्यते। अम्बुजदलवत्स्मेरे विकसित ईक्षणे यस्मिन् तत्। तव प्रतिबिम्बं त्वत्प्रतिबिम्बम्। महोत्सवस्य रसो महोत्सवरसः। अनिमेषाणि निमेषरहितानि यानि लोचनानि तेषां भावस्तत्ता तया।

भावार्थ—हे भगवन्! जब हमें आपकी जड़ प्रतिमा के दर्शन करने से इतना अपार आनंद होता है तब कल्याणकों के समय आपके दर्शन करने वाले देवों को जो आनन्द होता होगा उसका कौन वर्णन कर सक्ता है?।

दृष्टं धाम रसायनस्य महतां दृष्टं निधीनां पदं
दृष्टं सिद्धरसस्य सद्म सदनं दृष्टं च चिन्तामणेः।
किं दृष्टेरथवानुषङ्गिकफलैरेभिर्मयाद्य ध्रुवं
दृष्टं मुक्तिविवाहमङ्गलगृहं दृष्टे जिनश्रीगृहे ॥२५॥

अन्वयार्थ—(जिनश्रीगृहे) जिनमन्दिर अथवा जिनेन्द्ररूप लक्ष्मीगृह के **(दृष्टे 'सति')** देखे जाने पर **(मया)** मैंने **(रसायनस्य धाम दृष्टम्)** रसायन का घर देख लिया **(महतां निधीनाम् पदं दृष्टम्)** बड़ी-बड़ी निधियों का स्थान देख लिया **(सिद्धरसस्य)** सिद्ध हुए रस-औषधि विशेष का **(सद्म दृष्टम्)** घर देख लिया **(च)** और **(चिन्तामणेः)** चिन्तामणि रत्न का **(सदनम् दृष्टम्)** घर देख लिया।

टीका—भो देव! जिनश्रीगृहे भगवच्चैत्यालये दृष्टे सति मयाद्यध्रुवं निश्चितं। रसायनस्य सिद्धौषधस्य धाम गृहं दृष्टम्। पुनर्जिनश्रीगृहे दृष्टे सति महतां निधीनां पद्मादिनवनिधीनां पदं स्थानं मया दृष्टम्। पुनर्जिनश्रीगृहे दृष्टे सति मया सिद्धिरसस्य सद्म सदनं दृष्टम्। पुनर्जिनश्रीगृहे दृष्टे सति मया चिन्तामणे रत्नविशेषस्य सदनं दृष्टम्। अथवा पक्षान्तर एभिरानुषङ्गिक फलैः स्वल्पफलैः किं प्रयोजनम्। भो देव! जिनश्रीगृहे दृष्टे सति मयाद्य ध्रुवं निश्चितं। मुक्तिविवाहमङ्गलगृहं दृष्टम्। आनुषङ्गिकं परिमितं फलं येषान्ते तैः। मुक्तेर्विवाहस्तदर्थं मङ्गलगृहं। जिनस्य गृहं चैत्यन्तस्मिन्।

भावार्थ—हे भगवन्! आपका दर्शन, रसायन, निधि, सिद्ध-रस

और चिन्तामणि की तरह उपकारी तो है ही परन्तु मुक्ति प्राप्ति का भी कारण है।

दृष्टस्त्वं जिनराजचन्द्र! विकसद्भूपेन्द्रनेत्रोत्पले
स्नातं त्वन्नुतिचन्द्रिकाम्भसि भवद्विद्वच्चकोरोत्सवे।
नीतश्चाद्य निदाघजः क्लमभरः शान्तिं मया गम्यते
देव! त्वद्गतचेतसैव भवतो भूयात्पुनर्दर्शनम् ॥२६॥

अन्वयार्थ—(जिनराजचन्द्र) हे जिनेन्द्रचन्द्र! **(मया त्वम् दृष्टः)** मैंने आपके दर्शन किये तथा **(विकसद्भूपेन्द्रनेत्रोत्पले)** जिसमें राजाओं के नेत्ररूपी कुमुद फूल रहे हैं ऐसे तथा **(भवद्विद्वच्चकोरोत्सवे)** जिसमें विद्वान् रूप-चकोर पक्षियों को आनन्द हो रहा है ऐसे **(त्वन्नुति-चन्द्रिकाम्भसि)** आपकी स्तुति रूप जल में **(स्नातं)** स्नान किया **(च)** और **(अद्य)** आज **(निदाघजः)** सन्ताप से उत्पन्न हुआ **(क्लमभरः)** खेद का समूह **(शान्तिम् नीतः)** शान्ति को प्राप्त कराया **(देव)** हे देव! **(त्वद्गतचेतसा एव मया गम्यते)** अब मैं आप में ही चित्त लगाता हुआ जाता हूँ **(भवतः दर्शनम् पुनः भूयात्)** आपके दर्शन फिर भी हों।

टीका—भो जिनराजचन्द्र! त्वमष्टविधप्रातिहार्यविभवापन्नः दृष्टः सन्मया त्वन्नुतिचन्द्रिकांभसि स्नातम्। तव नुतिस्त्वन्नुतिः सैव चन्द्रिका चन्द्रज्योत्स्ना सैवांभः पानीयं तस्मिन्। कीदृशे त्वन्नुतिचन्द्रिकांभसि? विकसन्ति भूपेन्द्रनेत्राण्येवोत्पलानि यस्मिन्तत्तस्मिन्। पुनः किं विधे? भवतस्तव। विद्वान्सस्तल्लक्षणा ये चकोराश्चकोरपक्षिणस्तेषामुत्सवो यस्मिन्तत्तस्मिन्। च पुनः भो नाथ! मया निदाघजः क्लमभरो ग्रीष्मभवः प्रस्वेदभरः। शान्तिं नीतः समाप्तिं प्रापितः। भो देव! मया त्वद्गतचेतसा एव गम्यते। भवतस्तव। पुनर्दर्शनं भूयात् अस्तु। इति एवं स्तवनकर्त्रा याचितम्। त्वय्येव गतम् चेतो यस्य स तेन्।

भावार्थ—हे भगवन्! मैंने आपके दर्शन किये और स्तुति भी की तथा मन का समस्त सन्ताप भी दूर किया। अब मैं जाता हूँ, पर मेरा चित्त आपमें ही लग रहा है। मैं प्रार्थना करता हूँ कि मुझे आपके दर्शन फिर भी प्राप्त होवें।